समरथ

जनवरी–फरवरी 2009 ◆ नई दिल्ली

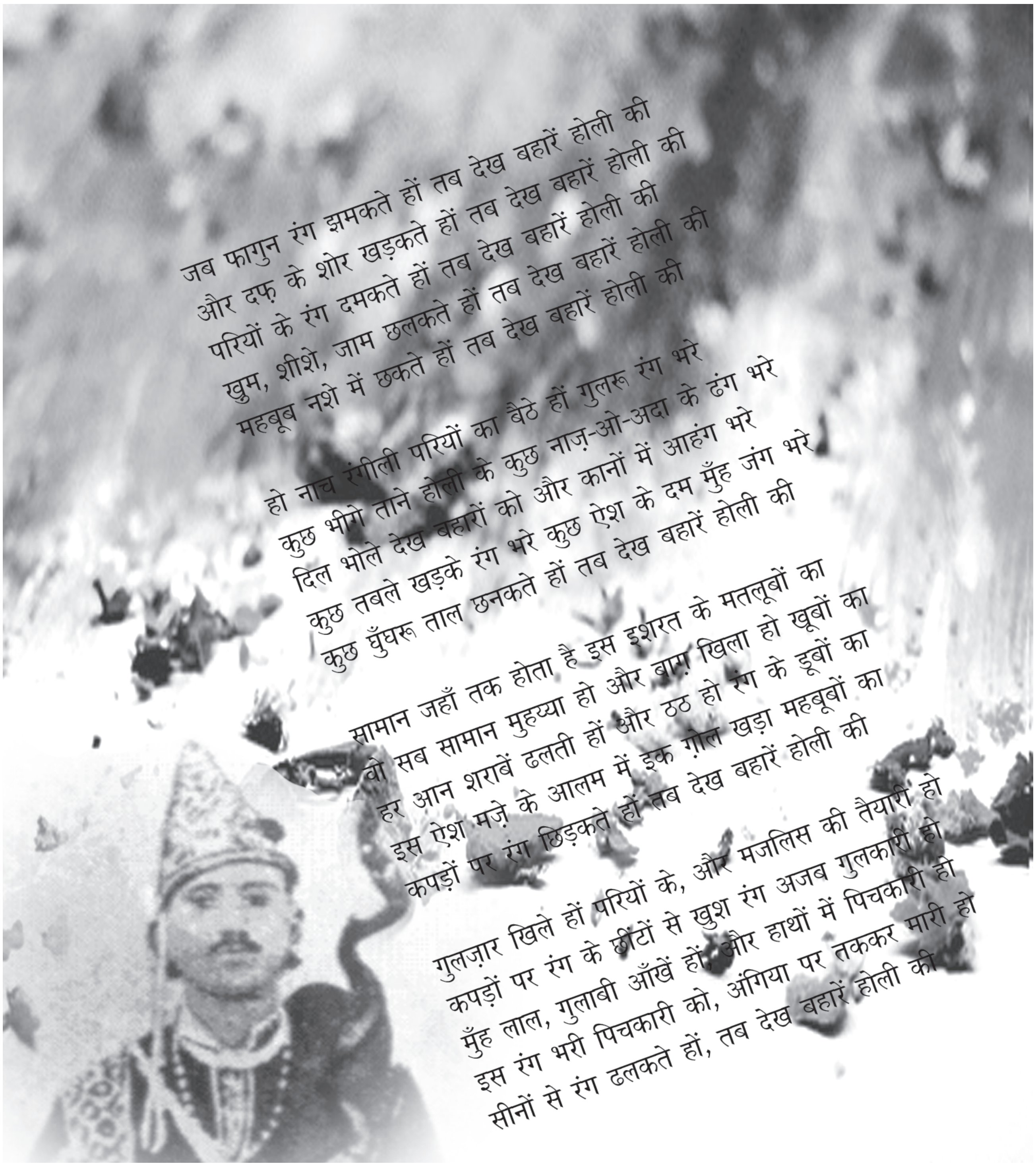

नाहि तो जनम नसाई

भारत के सारे पर्व और त्योहार शताब्दियों से देश के आम इंसानों को एक सूत्र में बांधने का काम करते आए हैं। इस हकीकत को केवल हम भारतीय नहीं अन्य देशों के लोग और बुद्धिजीवी भी मानते आए हैं। अनेक विदेशी दस्तावेजों और उपन्यासों में दीवाली, दशहरा, ईद, दुर्गा पूजा आदि त्योहारों को तमाम भारतीयों के मेल-मिलाप का एक प्रतीक माना गया है। हमारे देश के इतिहास और साहित्य में हमारे पर्व सौहार्द के अनोखे उदाहरण बनकर पेश हुए हैं। इन पर्वों और त्योहारों में धर्म की दीवार आड़े कभी नहीं आई। होली का त्योहार इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। आगरा के महाकवि नज़ीर अकबराबादी की रचनाएं हम पहले भी समरथ में प्रकाशित कर चुके हैं। इस देश के साहित्य के इतिहास में नज़ीर अकबराबादी एक ऐसा नाम है जिसने हर भारतीय पर्व को एक आम भारतीय की नजर से देखा। उनकी दृष्टि में कोई भी पर्व या त्योहार उस हर व्यक्ति का है जो इस देश की मिट्टी से जुड़ा है। इस संदर्भ में नज़ीर और महाकवि कबीर की दृष्टि में एक बड़ा अंतर ये है कि जहां कबीर सामाजिक भेदभाव, कुरीतियों और पाखण्ड की धज्जियां उड़ाते हैं वहीं नज़ीर हर परंपरा में कोई-न-कोई सकारात्मक पहलू तलाश कर लेते हैं और उन्हें कविताओं में ढाल कर आम लोगों के बीच खुद पहुंच जाते हैं। धर्म या धार्मिकता उनके लिए तब तक कोई बुरी चीज नहीं हैं जब तक वो सहिष्णुता की बात करे। अगर वो हजरत अली की वंदना करते हैं तो गुरु नानक, श्रीकृष्ण और महादेव को भी नहीं भूलते। ईद की खुशियों की बात करते हैं तो दीवाली और होली को भी उतना ही महत्व देते हैं। समरथ के इस अंक का प्रकाशन फागुन के समय हो रहा है जो कि खुशियों का त्योहार है, आम जन का त्योहार है और आम जन से नज़ीर दूर कैसे रह सकते हैं। होली पर नज़ीर की दो उत्कृष्ट कविताएं इस अंक में पेश की जा रही हैं। कविताओं से साफ झलकता है कि नज़ीर खुद होली के रंग और उसकी मस्ती में डूब जाते थे। शायद आज के माहौल में कुछ पाखण्डी उन पर फतवा भी जारी कर देते कि नज़ीर जैसा इंसान होली के रंग माजून, शराब और भांग का बखान कैसे कर रहा है। लेकिन संभवता नज़ीर आज अगर मौजूद होते तो भी आम इंसानों के रंग में डूबकर ऐसी ही बातें करते। इस होली के पर्व पर हम आप सबको मुबारकबाद देते हुए नज़ीर की कविताओं के साथ होली की मस्ती में डूबने का एक और साधन प्रस्तुत कर रहे हैं।

होली

जब फागुन रंग झमकते हों तब देख बहारें होली की
और दफ़[1] के शोर खड़कते हों तब देख बहारें होली की
परियों के रंग दमकते हों तब देख बहारें होली की
खुम,[2] शीशे, जाम छलकते हों तब देख बहारें होली की
महबूब[3] नशे में छकते[4] हों तब देख बहारें होली की

हो नाच रंगीली परियों का बैठे हों गुलरू[5] रंग भरे
कुछ भीगे ताने होली के कुछ नाज़-ओ-अदा के ढंग भरे
दिल भोले देख बहारों को और कानों में आहंग भरे
कुछ तबले खड़के रंग भरे कुछ ऐश के दम मुँह जंग भरे
कुछ घुँघरू ताल छनकते हों तब देख बहारें होली की

सामान जहाँ तक होता है इस इशरत के मतलूबों का[6]
वो सब सामान मुहय्या हो और बाग़ खिला हो खूबों[7] का
हर आन शराबें ढलती हों और ठठ हो रंग के डूबों का
इस ऐश मज़े के आलम में इक ग़ोल खड़ा महबूबों का
कपड़ों पर रंग छिड़कते हों तब देख बहारें होली की

गुलज़ार खिले हों परियों के, और मजलिस की तैयारी हो
कपड़ों पर रंग के छींटों से खुश रंग अजब गुलकारी हो
मुँह लाल, गुलाबी आँखें हों, और हाथों में पिचकारी हो
इस रंग भरी पिचकारी को, अंगिया पर तककर मारी हो
सीनों से रंग ढलकते हों, तब देख बहारें होली की

इस रंग रंगीली मजलिस में, वो रंडी नाचने वाली हो
मुँह जिसका चाँद का टुकड़ा हो, और आँख भी मय की[8] प्याली हो
बद मस्त, बड़ी मतवाली हो, हर आन बजाती ताली हो
मयनोशी[9] हो बेहोशी हो 'भड़ुए' की मुँह में गाली हो
भड़ुवे भी भड़ुवा बकते हों, तब देख बहारें होली की

और एक तरफ़ दिल लेने को महबूब मवय्यों के लड़के
हर आन घड़ी गत भरते हों कुछ घट-घटके कुछ बढ़-बढ़के
कुछ नाज़ जतावें लड़-लड़के कुछ होली गावें अड़-अड़के
कुछ लचके शोख़ कमर पतली कुछ हाथ चले कुछ तन फड़के
कुछ काफिर नैन मटकते हों तब देख बहारें होली की

ये धूम मची हो होली की और ऐश मज़े का झक्कड़ हों
उस खींचा-खींच की कुश्ती में और भड़ुवे रंडी का फक्कड़ हो
माजून[10] शराबें, नाच, मज़ा और टिकिया, सुलफ़ा, कक्कड़ हो
लड़-भिड़के 'नज़ीर' फिर निकला हो कीचड़ में लत्थड़-पत्थड़ हो
जब ऐसे ऐश झमकते हों तब देख बहारें होली की

संदर्भ :
1. चंग, 2. सुराही, 3. सुंदर प्रेमिकाएँ, 4. मस्त हों, बहकते हों, 5. फूलों जैसे सुंदर मुखड़े वाले, 6. भोग-विलास के प्रेमियों, 7. सुंदरियों, 8. शराब की, 9. मदिरा पान, 10. कई प्रकार की शराबों को मिलाकर जो बनाई गई हो।

होली

हुआ जो आ के निशां आश्कार होली का
बजा रबाब से मिल कर सितार होली का
सरोद, रक्स हुआ बे-शुमार होली का
हंसी-खुशी में बढ़ा कारोबार होली का
जुबाँ पे नाम हुआ बार-बार होली का

खुशी की धूम से हर घर में रंग बनवाए
गुलाल, अबीर के भर-भर के थाल रखवाए
नशों के जोश हुए राग-ओ-रंग ठहराए
झमकते रूप के बन-बन स्वाँग दिखलाए
हुआ हुजूम अजब हर किनार होली का

गली में, कूचे में, गुल-शोर हो रहे अक्सर
फड़कने रंग लगे यार हर घड़ी भर-भर
बदन में भीगे हैं कपड़े गुलाल चेहरों पर
मची ये धूम तो अपने घरों से खुश हो कर
तमाशा देखने निकले निगार होली का

बहार कपड़ों की, हर इक को जब नज़र आई
हर इश्क़ बाज़ ने दिल की मुराद भर पाई
निगह् लड़ा के पुकारा हर एक शैदाई
मियाँ ये तुम ने जो पोशाक अपनी दिखलाई
खुश आया अब हमें नक्श ओ निगार होली का

तुम्हारे देख के मुख पर गुलाल की लाली
हमारे दिल को हुई, हर तरह की खुशहाली
निगाह ने दी मय-ए-गुलरंग की भरी प्याली
जो हंस के दो हमें प्यारे तुम इस घड़ी गाली
तो हम भी जाने के ऐसा है प्यार होली का

जो जी के तुमने ये होली की तुरफा तैयारी
तो हंस के देखो इधर को भी जान यक बारी
तुम्हारी आन बहुत हम को लगती है प्यारी
लगा दी हाथ से अपने जो एक पिचकारी
तो हम भी देखें बदन पे सिंगार होली का

तुम्हारे मिलने का, रख कर हम अपने दिल में ध्यान
करें हैं आस लगा कर के देख लें इक आन
ये खुशदिली का जो ठहरा है आन कर सामान
गले में डाल के बाहें खुशी से तुम ऐ जान
पहनाओ हम को भी एक दम ये हार होली का

उधर से रंग लिए आओ तुम इधर से हम
गुलाल अबीर मिलें मुंह पे हो के खुश हर दम
खुशी से बोलें हंसो, होली खेल कर बाहम
इसी उम्मीद में था, इंतजार होली का

बुतों की गालियां हंस-हंस के कोई सहता है
गुलाल पड़ता है कपड़ों से रंग बहता है
लगा के ताक कोई, मुंह को देख रहता है
नज़ीर, यार से अपने खड़ा ये कहता है
मज़ा दिखा हमें कुछ तू भी यार होली का

पंचायती राज : जातिभेद की निरन्तर लम्बी होती छायाओं के बीच

■ सुभाष गाताडे

समूचे दक्षिण एशिया में सत्ता के विकेन्द्रीकरण के अभूतपूर्व प्रयोग के तौर पर पंचायती राज के प्रयोग को नवाज़ा जा रहा है। पिछले ही साल इस प्रयोग के पन्द्रह साल पूरे हुए। कुछ समय पहले पंचायती राज पर केन्द्रित कार्यक्रम में बोलते हुए प्रधानमंत्री महोदय ने भी पंचायतों की प्रभावोत्पादकता की तारीफ की तथा पंचायत प्रतिनिधियों के प्रशिक्षण की बात कही। लेकिन एक मसले पर वह मौन ही रहे।

दरअसल एक तरफ जहां इसके अन्तर्गत विभिन्न स्तरों पर चुन कर जाने वाले 25 लाख से अधिक प्रतिनिधियों की चर्चा होती है, वहीं यह बात उपेक्षित रहती है कि जाति, जेण्डर, सम्प्रदाय और वर्गीय आधारों पर बंटे हमारे समाज की बनावट की आन्तरिक विसंगतियों पर इसका कोई असर नहीं पड़ता दिखता है।

आप कह सकते हैं कि राजस्थान के भरतपुर जिले के बल्लभगढ़ गांव सरपंच सोनी देवी (उम्र 55 साल) उस दूसरे पहलू को उजागर करती है। सोनी देवी और उनका बेटा जल सिंह (22 वर्ष) अभी भी उस प्राणघातक हमले से उबरे नहीं हैं, जिसका शिकार उन्हें जनवरी के प्रथम सप्ताह में होना पड़ा था। सुरक्षित सीट से जीत कर सरपंच बनी सोनी देवी पर वर्चस्वशाली जाट जाति के लोग इसलिए नाराज थे क्योंकि उसने उसके कार्यकाल के दौरान सम्पन्न सार्वजनिक कामों के मजदूरों के मस्टर रोल उन्हें सौंपने से इन्कार किया था। जाहिर था कि पैसे का घपला करने की उनकी इस चाल को सोनी देवी जैसी श्रमिक महिला ने बेअसर कर दिया था। द हिन्दू में प्रकाशित समाचार (20 जनवरी 2009) के मुताबिक घटना के लगभग पन्द्रह दिन बीत जाने के बाद भी उसके हमलावर बेदाग घूम रहे थे। दलितों-आदिवासियों की रक्षा के लिए बने अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम 1989 के तहत मुकदमा दर्ज करने की जहमत भी पुलिस ने नहीं उठायी थी।

पिछले दिनों जब राजस्थान में दलित मानवाधिकारों के लिए सक्रिय लोगों का समूह बल्लभपुर गांव पहुंचा तब उसने पाया कि न केवल दबंग जाटों ने दलितों का सामाजिक बहिष्कार किया हुआ है, बल्कि पूरे गरीब लोग जबरदस्त दहशत में हैं। सोनी देवी किन परिस्थितियों में सरपंच बनी उसकी दास्तां भी उन्हें सुनने को मिली। गौरतलब था कि उसके पहले के सरपंच हरदेव कोली को भी उन्हीं आततायियों ने जबरदस्त मारा पीटा था और पद छोड़ने के लिए मजबूर किया था। इस मार के चलते हरदेव कोली हमेशा के लिए अंधे हो चुके हैं।

पंचायती राज संस्थाओं में सदस्य या पंच के तौर पर चुनी जाती अनुसूचित जाति की महिलाओं को किस तरह यौन अत्याचार और शारीरिक हिंसा झेलनी पड़ती है, इसके बारे में किए गए अध्ययन को कुछ माह पहले प्रधानमंत्री को सौंपा गया था। गुजरात के आणन्द स्थित 'इंस्टीट्यूट ऑफ रूरल मैनेजमेंट' जैसे प्रतिष्ठित संस्थान द्वारा किए प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्ष निश्चित ही चौंकाने वाले थे। 'स्टेट ऑफ पंचायत : 2007-2008' शीर्षक से जारी उपरोक्त रिपोर्ट के मुताबिक अनुसूचित जाति की इन महिला पंचों को ''बड़े पैमाने पर'' उत्पीड़न को झेलना पड़ता है। अध्ययन के मुताबिक त्रिस्तरीय पंचायतों के चुनावों में अनुसूचित जाति के लगभग पांच लाख सदस्य चुने जाते हैं, जिनमें से चालीस फीसदी महिलाएं होती हैं।

आम तौर पर यही देखने में आता है कि पंचायतों की सदस्य बनी पढ़ी लिखी एवं सम्पन्न महिलाएं चुने जाने के बाद पंचायतों से दूर ही रहती हैं - जिसने 'मुखियापति' की परिघटना को जन्म दिया है, जहां उनके पति या परिवार के अन्य पुरुष

सदस्य मुखिया के उनके कर्तव्यों को निभाते हैं। राष्ट्रीय महिला आयोग एवं सेन्टर फॉर सोशल रिसर्च द्वारा किए गए अध्ययन में इस मसले पर रोशनी डाली थी। प्रस्तुत अध्ययन में उन्होंने यही पाया था कि अधिकतर महिलाएं पंचायतों की नामधारी सदस्य होती हैं और परिवार के पुरुष ही असली सत्ता सम्भालते हैं। (हिन्दुस्तान टाइम्स, 8 अप्रैल 2008)

मालूम हो कि पंचायत के अनुसूचित जाति सदस्यों को अपने सार्वजनिक भूमिकाओं को प्रभावी ढंग से निभाने में आने वाली मुश्किलें दोनों स्तरों पर नज़र आती हैं। इसका पहला स्तर ऊंची या दबंग जातियों के प्रभावों वाली पंचायतों में बाकी पंचों के उनके साथ व्यवहार से सम्बन्धित होता है। अपने अधिकारों के प्रति सचेत अनुसूचित जाति के पंचों के खिलाफ बाकी सदस्य अक्सर अविश्वास प्रस्ताव का हथियार इस्तेमाल करते दिखते हैं। मुश्किलों का दूसरा स्तर नौकरशाही के स्तर पर नज़र आता है, जहां छोटे पदों पर कार्यरत सरकारी अधिकारी भी उनके साथ 'उपेक्षा, बेरुखी' से पेश आते हैं।

दूसरी तरफ जातीय उत्पीड़न एवं पितृसत्ता दोनों को चुनौती देते निम्न तबके की या कथित निम्न जातियों की पंचायत सदस्य कम से कम पंचायत की देहरी चढ़ती हैं और वहीं उन्हें गांव तथा नौकरशाही के तंत्र में व्याप्त जातीय घृणा का शिकार होना पड़ता है।

'इंस्टीट्यूट ऑफ रूरल मैनेजमेंट' की प्रस्तुत रिपोर्ट कुछ साल पहले राजस्थान में सम्पन्न एक जनसुनवाई की याद ताजा करती है। राजस्थान की कुछ सामाजिक संस्थाओं ने पहल लेकर इस जनसुनवाई का आयोजन किया था जिसके बाद 'दलित महिला सरपंचों की कहानी - उनकी जुबानी' नाम से रिपोर्ट भी प्रकाशित की गयी थी, जिसमें उन्होंने इस बात को स्पष्ट तौर पर नोट किया था कि 'दलित महिला जनप्रतिनिधियों को तिहरा दमन झेलना पड़ता है - एक औरत होने की पीड़ा, उस पर दलित होने का दर्द और सबसे ज्यादा गरीबी की मार।' उसमें उन्होंने पाया कि आरक्षण की मजबूरी के चलते भले ही दलितों/महिलाओं को पंचायतों में अनेक पद मिले हों लेकिन अनुभव यही बताता है कि सत्ता के विकेन्द्रीकरण तथा दलितों एवं महिलाओं के सशक्तिकरण का लक्ष्य अधूरा ही रह गया है।

जनसुनवाई में सबसे पहले अजमेर के रसूलपुरा पंचायत की छग्गीबाई ने अपनी आपबीती बयां की थी कि किस तरह मनमाने तरीके से बेबुनियाद आरोप लगा कर उसके खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया था तथा उसे हटा दिया गया था। इस मामले में प्रशासन भी मूकदर्शक बना रहा। शेरगढ़ पंचायत की केसन बाई जब चुनाव जीतने के बाद पंचायत भवन पहुंची तो उच्च वर्ग के लोगों ने उसे पहले घुसने ही नहीं दिया, जब वह किसी तरह अन्दर पहुंची तब उन्हें सरपंच की कुर्सी पर बैठने नहीं दिया गया। एक नहीं दो नहीं चार बार उनके खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया, किन्तु वार्ड पंचायत में दलित प्रतिनिधियों की संख्या अधिक होने के कारण वह पारित नहीं हो सका।

अनुसूचित जाति की महिला सदस्यों को जो झेलना पड़ता है इसकी दुखद मिसाल बीते वर्ष मध्यप्रदेश के बेतुल जिले की दुलरिया गांव से सामने आयी थी, जब दलित परिवार में जन्मी पूर्व पंच उर्मिला ने खुदकुशी की थी। पंचायत में जारी भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज़ बुलन्द करने के लिए उसे सरपंच के बेटे के हाथों बलात्कार का शिकार होना पड़ा था और नामजद रिपोर्ट लिखे जाने के बावजूद छह साल तक पुलिस ने कोई कार्रवाई नहीं की थी। सूबा राजस्थान के गंगानगर के सूरतगढ़ ग्रामपंचायत जानकी दासवाला की दलित सरपंच सुमित्रा देवी की दास्तां पिछले दिनों अख़बारों की सुर्खियां बनी थी कि किस तरह चुनावी रंजिश के चलते पूर्व सरपंच के परिवार वालों ने उन्हें पेड़ से बांध कर पीटा था। उन्हीं दिनों दौसा जिले के बिवाई गांव की महिला सरपंच की ख़बर आयी थी कि उसे 15 अगस्त को राष्ट्रीय ध्वज फहराने नहीं दिया गया।

मालूम हो कि इस स्थिति को बदलने के लिए तथा इन वंचित जातियों की महिला पंचों को सशक्तिकृत करने के लिए कुछ सुझाव भी इंस्टीट्यूट की रिपोर्ट में पेश किए गए थे। इस सम्बन्ध में एक अहम सुझाव यह था कि पंचायती राज प्रणाली में हर स्तर पर सामाजिक न्याय कमेटियों का गठन। ऐसी ग्राम पंचायतें जिनकी अगुआई अनुसूचित जाति के सदस्य कर रहे हैं उन्हें पंचायती राज मंत्रालय की तरफ से विशेष अनुदान भी दिया जा सकता है। अनुसूचित जाति के सदस्यों को निष्प्रभावी करने के लिए आम तौर पर इस्तेमाल किए जाने वाले अविश्वास प्रस्ताव के हथियार को भी संशोधित करने का सुझाव रखा गया है।

एक पागल की डायरी का पुनर्पाठ

लू शुन की कहानी 'एक पागल की डायरी' का पुनर्पाठ ***अपूर्वानन्द*** *के शब्दों में–*

पचीस वर्ष हो गए हैं जब हमने पटना इप्टा की ओर से चीनी लेखक लू शुन की कहानी **'एक पागल की डायरी'** का मंचन किया था। जावेद अख़्तर खान ने मुख्य भूमिका निभाई थी। ज़ोर देने पर भी याद नहीं आ रहा कि तब क्यों हमने इस कहानी को मंचित करने के बारे में सोचा था।

इन 25 वर्षों में यह कहानी दिमाग की दराज में पड़ी रही। कहानी के आखरी दो वाक्य जैसे एक मन्त्र की स्मृति की तरह रक्त में घुल गए: **'शायद बच्चों ने आदमी को नहीं खाया है? बच्चों को बचा लें...?'** एक विक्षिप्त हो गए मनुष्य की कातर, आर्त पुकार है। नफरत के निरंतर प्रचार के बीच लगभग नब्बे साल पहले चीन से उठी यह चीख मेरे मस्तिष्क के आकाश में मंडराती रही है।

कथा का वाचक अपने स्कूल के दो दोस्तों से कई साल बाद मिलने जाता है। उसे उनमें से एक के बीमार रहने की ख़बर मिली थी। उनके घर जाने पर बड़ा भाई बताता है कि छोटा भाई अभी-अभी बीमारी से उबरा है और कोई सरकारी नौकरी उसे मिल गई है। फिर वह वाचक को अपने छोटे भाई की बीमारी के दौर में लिखी गई डायरी की दो जिल्दें देता है और कहता है कि इन्हें पढ़ने से शायद उसकी बीमारी के बारे में कुछ मालूम पड़ सकेगा। वाचक को डायरी पढ़ कर लगता है कि उसका दोस्त एक प्रकार के पर्सिक्युशन कॉम्पलेक्स से पीड़ित था। फिर वह इसे समझने के ख़याल से डायरी के कुछ हिस्सों कि नक़ल करता है।

मैं जब भद्र वर्ग के पुरुषों और महिलाओं के बीच बैठा गुजरात में मुसलमानों के कत्लेआम या उड़ीसा में ईसाइयों के मारे और बरबाद किए जाने के पीछे उन समुदायों की बदमाशी को ही कारण की तरह प्रस्तुत किए जाते सुनता हूँ तो मुझे फिर यह कहानी याद आने लगती है। मुझे सन् 1983-84 के दिन याद आते हैं जब पंजाब में सिखों के बड़ी तादाद में गायब किए जाने और मार दिए जाने के पक्ष में भी ऐसे ही तर्क दिए जाते थे।

पटना में सिखों को लूटा गया तो यही तर्क दिया गया था कि कभी भी उन्होंने क्यों नहीं सिख आतंकवाद का मुखर विरोध किया। जैसे यह कितना अकाट्य तर्क हो किसी को मार दिए जाने के पक्ष में। मुझे पटना के हरमन्दिर साहब में शरण लिए सिख याद आते हैं जो अपने पड़ोसी हिन्दुओं से डर कर वहाँ छिप बैठे थे जो उनका खून पी लेना चाहते थे।

अभी चार रोज़ पहले एक बैठक में एक दोस्त बताने लगीं कि उनकी बच्ची उनसे यह पूछ रही थी कि क्या ऐसे दिन आने वाले हैं जब उसे भी वैसे ही छुप कर रहना पड़ेगा जैसे नाज़ियों के ज़माने में एन फ्रैंक को रहना पड़ा था। हमारे एक दोस्त ने कहा कि यह अतिरंजित भय की अभिव्यक्ति है, अभी हमारे हालत ऐसे नहीं हुए हैं। हमारे एक दोस्त ने कहा कि वह बेहद डर गया है और उसे ऐसा लगने लगा है कि कोई उसके पीछे आ रहा है, उसे घेरने आ रहा है। वह दूसरों को ढांढस बंधाता रहा है। क्या यह सब कुछ उसी पर्सिक्युशन कॉम्पलेक्स के लक्षण हैं जिससे एक पागल की डायरी का वह पात्र ग्रस्त था?

> ***'आज आसमान में चाँद है ही नहीं, और मैं जानता हूँ कि यह अपशकुन है। आज सुबह मैं बड़ी सावधानी से बाहर निकला, मिस्टर झाओ बड़ी अजीब निगाहों से मुझे देख रहे थे मानो मुझसे डरे हुए हों, जैसे मुझे मार डालना चाहते हों। सात-आठ और थे जो फुसफुसा कर मेरे बारे में ही बातें कर रहे थे। और वे इससे भी डरे हुए थे कि मैं उन्हें देख रहा था। मैं जितने लोगों***

के करीब से गुजरा वे सब इसी तरह घबराए हुए थे। उनमें जो सबसे खौफनाक था, उसने मुझ पर दांत निपोड़े। इससे एड़ी से चोटी तक मैं सिहर उठा क्योंकि मुझे मालूम था कि उनकी तैयारी पूरी थी।'

'मैं हालाँकि डरा नहीं और बढ़ता ही चला गया। मेरे सामने बच्चों का एक झुंड था जो मेरे बारे में ही बात कर रहे थे और उनकी आँखों में भी मिस्टर झाओ जैसे ही भाव थे। मैं सोचने लगा कि आख़िर इन बच्चों को मुझसे क्या शिकायत रही होगी कि वे ऐसा बर्ताव कर रहे हैं ! ...मुझे मालूम नहीं कि मिस्टर झाओ को या सड़क के इन लोगों को मुझसे क्या शिकायत है। मुझे कुछ भी याद नहीं आता सिवाय इसके कि बीस साल पहले मेरे पाँव मिस्टर गू जियु के बही खातों पर पड़ गए थे और वे बेहद नाराज़ हुए थे। हालांकि मिस्टर झाओ उन्हें नहीं जानते लेकिन हो सकता है उन्होंने कहीं इसके बारे में सुन रखा हो और इसका बदला मुझसे लेना तय किया हो। शायद इसलिये वे सड़क के इन लोगों के साथ मिल कर मेरे ख़िलाफ़ साजिश कर रहे हैं। लेकिन इन बच्चों का क्या? उस वक्त तो ये पैदा भी नहीं हुए थे, फिर ये मुझे आज इतनी अजीब निगाहों से क्यों देख रहे हैं जैसे कि मुझसे डरे हुए हों और जैसे मुझे मार डालना चाहते हों? ...मुझे पता है। उन्होंने सब कुछ ज़रूर अपने माँ बाप से सुन रखा होगा!'

पागल की डायरी का पागल ऐसा महसूस करने लगता है कि वह चारों ओर से ऐसे लोगों से घिर गया है जिन्हें आदमी का मांस खाने की आदत पड़ गई है। वह लिखता है कि उसके गाँव से आया था जो यह बता रहा था कि किस तरह गाँव के लोगों ने एक बदमाश को पीट-पीट कर मार डाला और फिर कुछ लोगों ने उसका जिगर निकाल कर तल कर खा डाला था। यह सुन कर जब वह अपने भाई और गाँव वाले को टोकता है तो वे उसे घूरने लगते हैं और उसे लगता है कि उनकी निगाहें भी सड़क के लोगों जैसी ही हैं। तो क्या उन्हें भी आदमी का मांस खाने की आदत है?

आगे वह लिखता है,

'मुझे उनका तरीका मालूम है : वे फौरन मार डालना नहीं चाहते, उन्हें इसका साहस भी नहीं क्योंकि उन्हें इसका नतीजा पता है। इसकी जगह वे सब मिल गए हैं और उन्होंने हर जगह फंदा बिछा दिया है ताकि मुझे अपने आप को मार डालने पर मजबूर कर दें। कुछ दिन पहले सड़क के लोगों के बर्ताव और कुछ दिन से मेरे भाई के व्यवहार से भी यह साफ़ हो गया है। उन्हें सबसे सबसे पसंद है वह यह कि आदमी अपनी बेल्ट निकाल कर उसी से ख़ुद को लटका ले... ज़ाहिर है इसमें उन्हें बहुत मज़ा आता है और वे हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं।'

'...वे सिर्फ मरा हुआ मांस खाते हैं...' आदमी का गोश्त खाने की इच्छा, साथ ही यह डर कि कोई उन्हें भी खा सकता है, इस वजह से वे सब एक-दूसरे को शक की निगाह से देखते रहते हैं... आगे वह लिखता है, **'उनकी ज़िंदगी कितनी सुकून भरी होती गर वे ख़ुद को इस शक से आजाद कर पाते...**

क्या डायरी लिखने वाला पागल है? वह लिखता है, **मुझे यह अहसास अब जा कर** हो पाया है कि मैं ऐसी जगह रह रहा हूँ जहाँ चार हज़ार साल से आदमी का मांस खाया जाता रहा है... चार हज़ार साल के मनुष्य भक्षण के इतिहास के बाद मुझ **जैसा व्यक्ति किसी वास्तविक मनुष्य का सामना कैसे कर पायेगा**? अपनी पीढ़ी की इस अक्षमता से निराश वह पागल अपनी डायरी इन वाक्यों पर ख़त्म करता है, '**शायद अभी भी बच्चों ने आदमी का मांस नहीं खाया हो? बच्चों को बचा लें...**? दिल्ली, भागलपुर, नेल्ली, हाशिमपुरा, भिवंडी, ठाणे, आजमगढ़, जयपुर, इंदौर, धार, रतलाम, मंगलोर, कंधमाल के बाद क्या हममें इंसान का सामना करने की योग्यता शेष रह गई है? फिर हम क्या करें।

मातृ-शिशु पर मण्डराता खतरा

■ अंजलि सिन्हा

हमारे समाज में मातृत्व एक ही साथ प्रतिष्ठित और उपेक्षित दोनों है। मातृत्व का गुणगान और महिमामण्डन पुराने ग्रंथों से लेकर आधुनिक साहित्य तक में मिलता है। किन्हीं भी वजहों से जो औरत मां नहीं बन पाती है वह समाज में उपेक्षित प्राणी होती है तथा वह स्वयं को माफ नहीं कर पाती है। यह दुख अतुलनीय होता है जिसमें पूरा जीवन निरर्थक हो जाता है। मां का दर्जा ऊंचा है लेकिन इस प्रतिष्ठा का फल बच्चा पैदा करने वाली औरत के वास्तविक जीवन में नहीं दिखता है। इसका उदाहरण हमारे देश में मातृ-शिशु मृत्यु दर है। इस मुद्दे पर पहले भी सरकारी और गैर-सरकारी दोनों तरह से आंकड़े आते रहे हैं तथा सरकार एवं समाज ने सुधार की कुछ कोशिश भी की है। लेकिन हाल में जो आंकड़े सामने आए हैं वह फिर से ध्यान दिए जाने लायक हैं।

यूनिसेफ की ताजा रिपोर्ट जो इसी 15 जनवरी को पेश की गयी है, के मुताबिक हर 7 मिनट में एक औरत हमारे देश में जचगी सम्बन्धी बीमारियों या असावधानियों से मरती है। हर साल 78 हजार महिलाएं गर्भ सम्बन्धी कारणों से मरती हैं। रिपोर्ट में खुलासा किया गया है कि भारतीय महिलाएं अमेरिका और इंग्लैण्ड की तुलना में तीन सौ गुना अधिक गर्भ-सम्बन्धी बीमारियों तथा मौतों की शिकार बनती हैं। यानि कि जचगी के समय मौत का कारण पूरी तरह से सामाजिक हालत है न कि प्राकृतिक कारण। यदि अमेरिका इंग्लैण्ड में महिलाएं गर्भाधान के कारण नहीं मरती हैं तो इसकी वजह उनकी सामाजिक स्थिति तथा उपलब्ध मेडिकल की सुविधायें हैं। हमारे देश में जितनी औरतें हर रोज बच्चा पैदा करने के कारण मरती हैं उससे बीस गुना अधिक गर्भ सम्बन्धी बीमारियों की शिकार होती हैं जिसका खामियाजा वे ढलती उम्र में झेलती हैं। कैल्शियम की कमी के कारण हड्डियों का कमजोर हो जाना या गर्भाशय का बाहर आना तथा इन्फेक्शन हो जाना आदि आम बीमारी हैं।

माताओं के साथ-साथ रिपोर्ट यह बताती है कि भारत में पैदा होने वाले एक लाख बच्चे हर साल 28 दिन के होने से पहले मर जाते हैं। जच्चा-बच्चा के मौत में दो तिहाई मौतें उत्तर भारत के राज्यों में होती है जिसमें उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, मध्यप्रदेश, उत्तराखण्ड, राजस्थान और असम हैं। उत्तर प्रदेश में जहां हर 42 में से एक औरत इस मामले में मरती है वहीं केरल में हर 500 में से एक औरत गर्भ सम्बन्धी कारणों से मरती है।

हमारे समाज में इन मौतों का कारण गहरा और बहुस्तरीय है। गरीबी, पिछड़ापन, अज्ञानता तथा सरकारी निकम्मेपन का संयुक्त परिणाम है।

मातृ-शिशु मृत्यु की उंची दर के कारणों को मोटे तौर पर तीन तरह से बांट कर देख सकते हैं। सर्वप्रथम इसके लिए सरकारी नीतियां तथा प्रशासनिक लापरवाही एक प्रमुख कारण है। आज भी कई इलाके तथा गांव ऐसे हैं जहां कोई अस्पताल या स्वास्थ्य केन्द्र दूर-दूर तक नहीं है। सरकारी स्वास्थ्यकर्मी उचित पैकेज तथा रहने की सुविधाओं के अभाव में ऐसी जगह पर जाने को तैयार नहीं होते हैं साथ ही शहरों में भी आबादी की तुलना में सुविधाएं कम हैं जिसके कारण लोगों को लम्बे इन्तज़ार से गुजरना पड़ता है। दिल्ली का ही उदाहरण लें बवाना पुनर्वास बस्ती में गर्भवती महिलाओं से जब अस्पताल में रजिस्ट्रेशन के लिए कहा गया तो उन्होंने अस्पताल की भीड़ के साथ यह भी बताया कि वहां डॉक्टर और नर्स कैसे डांटते हैं, पूरा स्टाफ किस तरह इन गरीब बस्ती से आनेवाले लोगों को झिड़कता रहता है। अस्पतालों का

लोगों का अनुभव अच्छा नहीं है। डॉक्टरों एवं नर्सों में आम तौर पर इस एहसास की कमी पायी गयी है कि आए हुए लोगों को ठीक से और सम्मानजनक ढंग से अटेण्ड करना उनकी जिम्मेदारी है। वे इस काम के लिए वेतन पाते हैं तथा उनकी पढ़ाई में भी पूरे समाज के स्रोत का हिस्सा खर्च हुआ है। उनका पूरा व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि परेशान व्यक्ति की तकलीफ मानसिक रूप से भी कम हो। इसके उलटा हमारे समाज में डॉक्टर और पैरामेडिकल स्टॉफ अपने ओहदे के दम्भ में डूबा किसी तानाशाह से कम नहीं होता है। दूसरी वजह यह भी है कि पैसे वालों के लिए निजी स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध हैं और सरकारी अस्पताल में गरीब लोग जाते हैं इसलिए ये सरकारी अस्पताल सरकारी उपेक्षा के शिकार होते हैं। चूंकि हर नागरिक के स्वास्थ्य की जिम्मेदारी निभाने के लिए सरकार बाध्य नहीं है इसलिए कोई मरता है तो यह अवहेलना नहीं मानी जाती है।

इसी से जुड़ा दूसरा कारण गरीबी का है। संसाधनविहीन लोगों का न तो ठीक से भरण-पोषण होता है न ही मेडिकल जांच पड़ताल। जीवन की बुनियादी जरूरतें पूरी करने में लगा परिवार प्रसूति में विशेष इन्तजाम कहां से करेगा। खासतौर पर जेण्डरगत भेदभाव वाले समाज में जहां महिलाएं यूं भी उपेक्षा की शिकार हैं वहां उनका जीना-मरना प्राथमिकता पर नहीं होता है।

तीसरा प्रमुख कारण हमारे समाज का पिछड़ापन तथा अज्ञानता भी है। दुनिया के 40 फीसदी बाल-विवाह हमारे देश में होते हैं। कच्ची उम्र में गर्भाधान जानलेवा साबित होता है। विवाह के बाद ही परिवार की अपेक्षा बन जाती है कि बच्चा नहीं हुआ तो कोई समस्या है। जागरूकता की कमी के कारण दम्पति कोई उपाय ही नहीं करते हैं। अज्ञानता के साथ ही बेटे की इच्छा के कारण भी बार-बार गर्भाधान या गर्भपात से गुजरना खतरनाक साबित होता है। बच्चों की संख्या को लेकर भी हमारे समाज का बड़ा हिस्सा अभी सचेत नहीं बन पाया है। समाजशास्त्रियों ने इस पर प्रकाश डाला है कि गरीबी का जनसंख्या बढ़ोत्तरी से गहरा रिश्ता होता है। बाल मृत्यु दर असुरक्षा बोध भी पैदा करता है जो अधिक बच्चों का कारण बनता है।

हमारे समाज में पुरुषों की अज्ञानता तथा उपेक्षापूर्ण रवैया भी गर्भवती महिलाओं की मृत्यु में इजाफा करता है। बार-बार यह तथ्य उजागर हुआ है कि पुरुष अपनी नसबन्दी नहीं कराना चाहता है तथा वह निरोध जैसे साधनों के इस्तेमाल के प्रति भी उदासीन रहता है लिहाजा औरत को ही इसका खामियाजा झेलने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में मातृ-शिशु मृत्यु दर में थोड़ी गिरावट आयी है किन्तु हालात अभी भी चिन्ताजनक हैं। हर साल 78 हजार महिलाओं का इस वजह से मर जाना, समाज एवं सरकारों के निहायत ही गैर-जिम्मेदाराना रुख की तरफ इशारा करता है। कुछ वर्ष पहले (2000 में यह आंकड़ा आया था) प्रतिवर्ष एक लाख 20 हजार महिलाओं के मरने के आंकड़े थे। अभी अगर 7 मिनट में एक गर्भवती महिला के मरने की ख़बर है तो पहले वह आंकड़ा 5 मिनट में एक औरत के मरने का था।

दरअसल हमारी सरकारें किसी भी गम्भीर समस्या से टुकड़ों-टुकड़ों में समाधान निकालने लगती है और मूल कारण को सम्बोधित नहीं करती हैं। सिर्फ सुरक्षा के कुछ उपाय या जननी सुरक्षा दिवस मनाना अपर्याप्त है। स्वास्थ्य एजेंसियों को सेवा देने के लिए बाध्य करने के साथ ही लोगों को जागरूक बनाना भी जरूरी है। हर नागरिक के स्वास्थ्य की फाइल होनी चाहिए। जब भी इस प्रकार की समस्या पर सरकार काम करने चलती है तो मंत्रालय ज़िम्मेदारी का बड़ा हिस्सा स्वयंसेवी संस्थाओं को सौंप देता है और उन्हें सेवा के लिए धन उपलब्ध करा देता है। इन संस्थाओं की जनता के प्रति कोई जवाबदेही नहीं होती है। वे रिपोर्ट तैयार कर दाता एजेन्सी को सौंप देते हैं।

(अंजलि सिन्हा 'स्त्री अधिकार संगठन' से सम्बद्ध हैं और सत्यवती कालेज (सांध्य) में कौन्सिलर के पद पर कार्यरत हैं।)

हाल के युद्धों की अन्य विशेषताएं

■ मेरी बी. एण्डरसन

...पिछले अंक से जारी

युद्ध क्यों जारी रहते हैं ?

अगर हमारे सभी दावे सच हैं, अगर बहुत सारे लोग अपने-अपने युद्ध के लक्ष्यों के लिए प्रतिबद्ध नहीं हैं, अगर प्रतिबद्ध हैं फिर भी अपने लक्ष्यों को पाने के युद्ध के अलावा दूसरे विकल्पों की तलाश में उत्सुक हैं, तो फिर युद्ध क्यों जारी हैं? एक बार फिर हम वही बता रहे हैं जो संघर्षशील समाजों के अनेक लोगों ने हमें बताया और जो हमने इन समाजों में देखा।

युद्ध ख़ुद में स्थायी हैं

एक बार जब युद्ध शुरू हो जाता है तो साथ-साथ शुरू हुई अनेक प्रक्रियाएं युद्ध की समाप्ति को मुश्किल बना देती हैं। जब लोग अपने पुराने पड़ोसियों से युद्ध करने के सीधे और व्यक्तिगत अनुभव रखते हों, जब उन्हें या उनके किसी दोस्त को ऐसे लोगों के अत्याचार झेलने पड़ें जिनके साथ कभी वे रहा करते और बातचीत करते थे, तब वे अपने ''नेताओं'' द्वारा प्रतिपादित बहिष्करणवादी दर्शन के समर्थक बनने लगते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि ''उन लोगों'' पर उन्हें विश्वास कैसे हुआ और वे इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि अब वे उन पर कभी विश्वास नहीं कर सकते हैं।

''ऐसे लोगों को अलग-थलग होना पड़ा जिनके पास न तो हथियार थे और अपनी व्यक्तिगत सत्ता के बाहर किसी भी तरह की वास्तविक ताक़त नहीं हासिल थी... वे चुप रहे क्योंकि 'परस्पर-विरोधी' कुछ भी करेंगे। 'परस्पर विरोधी' जानते हैं अगर संघीय ताक़तें नियंत्रण स्थापित करने में सफ़ल रहीं तो उन्हें जवाबदेही के लिए बुलाया जाएगा। इसलिए लड़ने के अलावा उनके पास दूसरा कोई विकल्प नहीं है।''

''मैं सोचता हूं कि अगर लड़ाकू उन गांवों को छोड़कर नहीं जाते हैं... (दूसरा)... बर्बाद हो जाएगा... और 'परस्पर विरोधी' संभवतः आसानी से बम गिराने या तोपें दागे जाने को बढ़ावा देंगे।''

-26 फरवरी, 1996 को वॉयस ऑफ अमेरिका के संवाददाता जोन बीकर द्वारा चेचेन्या से भेजी रिपोर्ट में चेचेन्यावासियों के साक्षात्कार के अंश।

यह इसमें (लोगों की एकजुटता को छिन्न-भिन्न करने के लिए कहीं ज़्यादा प्रभावी रणनीति होने की संभावना है।) पूर्व मित्र, पड़ोसी या सहयोगी पर अत्याचार करने का आम अनुभव भी नागरिक युद्ध को स्थायी बनाने में उतना ही महत्वपूर्ण है। कभी-कभी तो यह अत्याचार काफ़ी साधारण-सा ही था- जैसे जब कभी भी किसी को धमकी मिली या उस पर आक्रमण हुआ तो उसकी मदद करने के लिए कुछ भी नहीं किया गया, और कभी-कभी इसमें आमने-सामने से हिंसा होना शामिल था। दोनों ही स्तर पर अपराध संगीन है। जब भले लोग ऐसे काम कर डालते हैं जिन पर उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि परिचितों के ख़िलाफ़ वे ऐसा कर भी सकते हैं, वे अक़सर ऐसे कामों को न्यायोचित ठहराने के लिए दबाव महसूस करते हैं। अगर 'वे' हमारे साथ भयंकर कार्रवाई कर रहे हैं और अब हम 'उन' पर विश्वास नहीं कर सकते हैं तो 'उनके' ख़िलाफ़ उठाया गया व्यवहार ज़रूरी माना जा सकता है।

ख़ासकर जब नागरिकों को शिकार बनाया जाता है तब युद्ध ख़ुद ऐसी कार्रवाइयों का एक चक्र बनाता है जो कार्रवाइयां ख़ुद को स्थायी बनाए रखती हैं। क्रिया, प्रतिक्रिया, उल्लंघन, और बदला एक ऐसे चक्र को मजबूत बनाते हैं जिसे तोड़ना अधिक से अधिक मुश्किल हो जाता है। युद्ध का अनुभव एक ऐसा मूल कारण बनता चला जाता है जो भविष्य में युद्धों को जन्म देता है।

पहले का एक बहिष्कारक समूह आख़िरकार एक ऐसे दुश्मन के साथ शांतिवार्ता को तैयार हो गया जिसके साथ उसने लंबी लड़ाई लड़ी थी। अभी बातचीत का महत्वपूर्ण पहला दौर शुरू ही होनेवाला था कि एक बम विस्फोट ने एक बाज़ार को तहस-नहस कर दिया। लेकिन दोनों पक्षों में से किसी ने भी दूसरे पर आरोप नहीं लगाया, दोनों ही तय समय पर मिले।

उसी दिन बाद में स्थिति पर पैनी नज़र रख रहे एक विश्लेषक का एक अंतर्राष्ट्रीय रेडियो प्रसारण में साक्षात्कार लिया गया। उसने इस पहलक़दमी के महत्व की चर्चा करते हुए कहा कि बमबारी को देखते हुए शांति की ओर बढ़ने की रफ़्तार बनाए रखना बहुत ज़रूरी है।

लेकिन बाद में जब रिपोर्टर ने पूछा- ''अगर शांति की दिशा में किए जा रहे इस प्रयास को धक्का लगता है तब ?'' तो विशेषज्ञ का जवाब था- ''बम का एक और धमाका ज़रूर ऐसा कर देगा।'' इस तरह उनका इशारा था कि भले ही बम का एक धमाका शांति प्रक्रिया को बाधित करने में असफ़ल रहा लेकिन दो धमाके सफ़ल रहेंगे।

अनेक वर्षों तक चलने वाला युद्ध युवाओं की एक ऐसी पीढ़ी तैयार कर सकता है जिन्हें न तो कोई दूसरा व्यवसाय आता है और न ही उनके पास दूसरी नागारिक क्षमताएं होती हैं। उन्हें कोई दूसरी नौकरी भी नहीं मिल सकती, इसलिए लंबे समय तक चलने वाले युद्ध को वे अपने पक्ष में मानते हैं। उन्हें समाज से जोड़ पाना बहुत मुश्किल होता है। उनकी अराजकता और लूट-पाट आम जनता में उनके प्रति अविश्वास और संदेह को स्थायित्व प्रदान कर व्यापक तनाव पैदा कर सकते हैं।

इसके अलावा कुछ व्यक्ति और समूह ऐसे भी होते हैं जो युद्ध से किसी भी तरह का सीधा आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक फ़ायदा न मिलने के बावजूद युद्ध को स्थायी बनाए रखना चाहते हैं। कुछ लोग तो किसी लक्ष्य के साथ इतना अधिक जुड़ जाते हैं और उस लक्ष्य के लिए हर तरह की क़ुर्बानियां देने को तैयार रहते हैं कि युद्ध का अंत उनकी पहचान के लिए संकट पैदा कर देता है। मूलतः लक्ष्य की अच्छाई से प्रेरित हुए ऐसे लोग बहिष्कारक बन सकते हैं। वे अक्सर ऐसी गतिविधियां करते हैं जिन्हें उनके लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं लेकिन वे गतिविधियां एक न्यायपूर्ण शांति स्थापित करने के बजाय बदला लेने की भावना को गति प्रदान करती हैं।

युद्ध असंगतताओं या परस्पर विरोधियों को भी जन्म देता है। कभी-कभी तो प्रताड़ित हुए लोग दूसरों को कष्ट केवल इसलिए देना चाहते हैं क्योंकि उन्होंने भी तकलीफ़ों को अनुभव किया था। कभी-कभी तो लोगों ने युद्ध के दौरान ऐसे अपराध किए होते हैं कि अगर शांति बहाल हो जाती है तो उन्हें उनके अपराधों की सज़ा दी जा सकती है। ऐसे लोगों के लिए युद्ध का ख़त्म होना उनके वजूद के खत्म होने जैसा होता है, युद्ध का जारी रहना अकेला ऐसा माध्यम है जिसके सहारे वे बचे रह सकते हैं।

हालांकि संख्या के हिसाब से वे एक छोटे से समूह का ही प्रतिनिधित्व करते हों लेकिन बहिष्कारकर्ता और परस्पर विरोध करने वाले शांति की राह पर बड़ी रुकावट हैं। अनुभव बताता है कि जैसे-जैसे समझौते की ओर व्यवहार बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे इन समूहों को डर लगने लगता है कि इन्हें अपनी कारगुज़ारियां बताने के लिए सीधी कार्रवाई का सहारा लेना पड़ेगा। युद्ध से युद्ध विराम और फिर शांति की ओर बढ़ने वाले ज़्यादातर समाजों में कम से कम एक या फिर कभी-कभी अनेक प्रयास शांति से पुनः युद्ध की ओर ले जाने के होते हैं। समझौतों में शामिल नेताओं की हत्या या फिर परस्पर अविश्वास पैदा करने वाली कोई हिंसक वारदात लोगों में भय पैदा कर शांति वार्ताओं को रद्द और शत्रुता को दोबारा शुरू कर सकती है।

ये कार्रवाइयां जानी-पहचानी हैं और इसीलिए अप्रभावी रहती हैं। हालांकि शांति क़ायम करने वाले अक्सर बहिष्कारकर्ता और परस्पर-विरोध करने वालों द्वारा की जाने वाली हिंसा से आश्चर्यचकित नज़र आते हैं और इस हिंसा को उन प्रयासों में दखलंदाज़ी करने का मौका दे देते हैं जो प्रयास बहुसंख्यकों को समझौते पर राज़ी करने के लिए बड़े सलीक़े से किए गए थे। जब वे ऐसा करते हैं तब उनकी कारगुज़ारियां सफल हो जाती हैं। अगर शांति स्थापित करने वाले बहिष्कारकों को यह संकेत देते हैं कि उनकी दखलंदाज़ी शांति स्थापित करने के प्रयासों को धीमा कर देगी तो ऐसा करके वे बहिष्कारकों के ऐसा करने के इरादों को और मजबूती प्रदान करते हैं। हर बार जब किसी बहिष्कारक का हिंसक व्यवहार शांति प्रक्रिया को भंग करने में सफ़ल रहता है, तब दूसरे बहिष्कारक भी अपनी आतंकवादी गतिविधियों के लिए प्रोत्साहित होते हैं। यह चक्र खुद-ब-खुद मजबूत होता चला जाता है।

अप्रवासी

एक अन्य समूह जो कभी-कभी युद्ध को स्थायी बनाए रखता है और शांति को ज़्यादा मुश्किल बना देता है वो है अप्रवासी समुदायों का यानी ऐसे लोगों का जो संघर्षरत इलाक़ों के मूल निवासी तो होते हैं लेकिन रहते कहीं दूसरे स्थान पर हैं। ये वे लोग हैं जो युद्ध शुरू होने पर कहीं और भाग गए और खुद को प्रवासी समूह के रूप में स्थापित कर लिया (उदाहरण के तौर पर नॉर्वे में तुआरेग, यूरोप में तमिल)। दूसरे उदाहरणों में वे शामिल हैं जो पैदा तो संघर्ष प्रभावित इलाक़े से बाहर हुए थे (अमेरिका में पैदा हुए आइरिश, इज़रायल से बाहर रह रहे यहूदी) लेकिन उनकी परवरिश के दौरान उनकी पहचान क्षेत्रीय संघर्ष के लक्ष्य से मजबूती से जोड़ दी गयी।

ओस्लो शांति समझौतों की शर्त के तहत जैसे ही गाज़ा पट्टी में फ़िलिस्तीनी अधिकारियों का प्रशासन शुरू हुआ, एक अमेरिकी रिपोर्टर ने दो यहूदी महिलाओं का साक्षात्कार किया। एक न्यूयॉर्क सिटी में रहती थी और दूसरी उत्तरी गाज़ा पट्टी की झुग्गियों में। पहली उत्तेजित थी, ''गाज़ा में रह रहे यहूदियों को वहां बने रहना चाहिए। उन्हें मांग करनी चाहिए कि उनकी सुरक्षा के लिए इज़रायल सेना मुहैया कराए। उन्हें अपने स्वप्न को साकार करने के लिए लगे रहना चाहिए। हमने उस ज़मीन पर जीत हासिल की है, हमें उसे अपने पास ही रखना चाहिए।''

दूसरी महिला हंस पड़ी : ''हम यहां गाज़ा में समझौते के तहत फ़िलीस्तीनियों को मिले ज़मीन के एक टुकड़े पर क्यों रहते रहें, क्या सिर्फ़ इसलिए कि न्यूयॉर्क में बैठा कोई सोचता है कि हमें रहना चाहिए? उसके लिए यह कहना आसान है कि हम अपने सपनों से जुड़े रहें। मैं इज़रायल वापिस जाकर अपने बच्चों की परवरिश करने को तैयार हूं। अगर हमें शांति से रहना है तो हमें समझौते करने ही होंगे। निःसंदेह गाज़ा में अपना घर मुझे प्यारा था। मुझे अफ़सोस है कि मैं उन लोगों में से हूं जिन्हें वापिस जाना है। लेकिन अगर इसी तरह शांति क़ायम की जा सकती है तो हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए।''

ऐसे समूह युद्ध का समर्थन करने के लिए अपनी हैसियत का इस्तेमाल कर धन एकत्रित कर सकते हैं। लक्ष्य के समर्थन में वे जनमत और अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक कार्रवाई हासिल कर सकते हैं। और कभी-कभी तो वे शांति की शर्तों की अपनी मांगों में युद्ध के माहौल में रह रहे अपने साथी देशवासियों की तुलना में कहीं ज़्यादा कठोर हो जाते हैं। ऐसा भी होता है कि स्थानीय समूह तो समझौते के लिए तैयार हो जाते हैं लेकिन युद्ध के दैनिक ख़तरों से बाहर रह रहे समूह विशुद्धवादी मुद्राएं अपनाते हुए उस तरह की शांति स्थापित किए जाने पर ज़्यादा ज़ोर डालते हैं जो उनकी कल्पना के हिसाब से सबसे अच्छी है।

युद्ध के मिज़ाज : युद्ध की मानसिकता

अकेले मिज़ाज और मानसिकताएं ही युद्ध के जारी रहने के लिए ज़िम्मेदार नहीं हैं लेकिन वे लोगों द्वारा युद्ध का बहिष्कार कर शांति की ओर अग्रसर होने के मौके खो देने के लिए अक्सर ज़िम्मेदार होते हैं। प्रतिस्पर्धी समाजों के कुछ लोग सामाजिक रिश्तों में बढ़ रही हिंसा पर विचार करते हैं। वे इस बात पर ध्यान देते हैं कि जिन संदर्भों में अचानक हिंसा आम बात है वहां ज़िंदगी की क़ीमत घट जाती है और विवादों के निपटारे के लिए लोग बातचीत या समझौते के बजाय तुरंत हथियारों का इस्तेमाल करने लगते हैं। ख़ासकर, अक्सर हम संघर्ष के संदर्भ में पले-बढ़े बच्चों द्वारा सीखे जाने वाले मूल्यों को लेकर की जाने वाली चिंताएं सुनते हैं। उदाहरण के तौर पर, अफ़गानिस्तान में अभिभावक और सहायता प्रदान करने वाले कर्मचारी फ़ैलती जा रही उस ''हिंसक संस्कृति'' पर अक्सर अपने विचार व्यक्त करते हैं जो परस्पर व्यक्तिगत बातचीत की अपेक्षाओं को तय करती है। कुछ स्थानीय ग़ैर-सरकारी संगठन ऐसे कार्यक्रम शुरू कर रहे हैं जो इस संस्कृति को सीधे-सीधे चुनौती देते हैं और शांतिपूर्ण सामाजिक मेल-जोल के मूल्यों और प्रक्रियाओं को दोबारा सिखाने का प्रयास करते हैं।

इसके अलावा, अनेक संघर्षमय स्थितियों में राहतकर्मियों ने उन प्रक्रियाओं पर विचार-विमर्श किया है जिनके द्वारा वे भी युद्ध को स्वीकार करने की दिशा में अग्रसर होने लगते हैं। ख़ासे आत्ममंथन और ईमानदारी के साथ कुछ लोगों ने तो उस उत्तेजना की बात भी कही जो आलोचना के शिकार एक अच्छे मक़सद के लिए काम करने में होती है। वे ख़तरे से पैदा हुई भावना की बात करते हैं और यह भी बताते हैं कि कैसे लोग एक-दूसरे की देखभाल करते हैं और गहरे अर्थवान तरीक़ों से परस्पर संबंध स्थापित करते हैं। युद्ध की मानसिकता राहतकर्मियों द्वारा स्थानीय लोगों के ख़ुद को संघर्ष से हटा लेने को समर्थन देने के महत्वपूर्ण मौकों की अनदेखी करा सकती है।

लेबनान में जैसे-जैसे युद्ध विराम के शुरुआती महीने निकले और लोग शांति बनाए रखने में विश्वास करने लगे, स्थानीय ग़ैर-सरकारी संगठन के कर्मचारियों और एक बाहरी सलाहकार ने यह सोचना शुरू किया कि ग़ैर-सरकारी संगठन के कार्यक्रम को किस तरह नया रूप दिया जाए ताकि इसे सहायता कार्यक्रम से विकास कार्यक्रम में बदला जा सके। समूह में सामान्य रूग्णता या आलसीपन बना रहा और इसे अपने नए कार्य से किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं मिली और इसने सलाहकार की तमाम कोशिशों को नकार दिया। अंत में कर्मचारियों के निदेशक को कहना पड़ा, ''मैं जानता हूं कि क्या ग़लत है। मैं जानता हूं कि इस वार्ता में भाग लेने में हमें परेशानी क्यों हो रही है। पिछले 15 वर्षों से हम हर एक दिन उठे हैं और काम पर गए हैं बिना यह जाने कि हो सकता है आज हमारा आखिरी दिन हो। हमारे बहुत से मित्र और सहयोगी मार डाले गए हैं। हम जानते हैं कि दोनों तरफ़ से हो रही गोली-बारी में हम कभी भी फंस सकते हैं। हमने ख़ुद को पल-पल जीना सिखाया और यह सोचा भी नहीं कि अगले घंटे क्या होगा, अगले हफ्ते या अगले साल की बात तो बहुत दूर है। अब शांति के दौरान हमें आगे की योजना बनानी है। हमें व्यवहार के दूसरे तरीक़ों पर विचार करना है। हमें छोटे-छोटे क़दम उठा कर एक लंबी अवधि में भावी विकास करना है। हमें नहीं पता कि शांति के लिए कैसे योजना बनाई जाए और फिर उस पर कार्य किया जाए !''

राहतकर्मी और एजेंसियां कभी-कभी तो युद्ध न करने वाले समाजों में किए गए कामों की तुलना में युद्ध में किए गए कामों को ज़्यादा महत्व देती हैं। मान-सम्मान, एजेंसी के मत को अपने पक्ष में कराने की ताक़त और यहां तक कि कर्मचारियों की उन्नति को भी कभी-कभी युद्ध के दौरान किए गए कामों से जोड़ा जाता है, न कि शांतिकाल या संघर्ष के बाद किए गए कार्यों से।

साराजेवो में जैसे-जैसे आई.एफ.ओ.आर. सैन्य टुकड़ियों (शांति स्थापित करने वाली सेनाएं) ने बोसनिया और हर्ज़ेगोविना के पार मोर्चा संभाला, एक आगन्तुक ने एक ऐसे राहतकर्मी का साक्षात्कार किया जो दो साल से भी ज़्यादा समय से शहर में रह रहा था और जिसने कब्ज़े का सबसे ख़राब पहलू देखा था। साक्षात्कारकर्ता ने पूछा, ''अब जबकि लड़ाई समाप्त हो चुकी है, आप कैसा महसूस कर रहे हैं।''

राहतकर्मी ने जवाब दिया, ''सच कहें तो, हम नहीं जानते कि हम ख़ुद का क्या करें। जब सहायता देने वाले नए लोग आते हैं, हम ख़ुद को उनसे ऊपर समझते हैं। हम इसी विचार के साथ रहे हैं। वे नहीं समझ सकते हैं। हम युद्ध की गाथाएं बताते हैं मानों ये सच्चाई बयान कर रही हों और मानो कि शांति अवास्तविक और कम महत्वपूर्ण हो। हम उस समय की अपनी 'युद्धगाथाएं' बमों के साये में कहते हैं और हम तक़रीबन भूल ही जाते हैं कि हम कितना अधिक डरा करते थे। हमें इस काम में कोई आनंद नहीं मिलता है। यह अनुभूति करना बहुत विचित्र है।''

शेष अगले अंक में...

वैश्वीकरण और मीडिया--संस्कृति एवं साझी विरासत पर असर

■ आई.एस.डी.

सबसे पहले यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि *संस्कृति* शब्द को इस लेख में कई जगह परस्पर भिन्न अर्थों में इस्तेमाल किया गया है क्योंकि *साझी विरासत* व्यापक समुच्चय का सिर्फ एक हिस्सा भर है। लेकिन *साझी विरासत* मूल्य-युक्त संस्कृति के हर पहलू से ठीक वैसे नहीं जुड़ी होती है जिस तरह व्यापक उपभोग की संस्कृति जुड़ी होती है।

मीडिया को हम अखबार, रेडियो प्रसारण और टेलीविजन जैसे संचार माध्यमों के समुच्चय के रूप में देखते हैं। *मास मीडिया* (जन माध्यम) की विषयवस्तु---मनोरंजन, समाचार, शैक्षणिक कार्यक्रम, विज्ञापन, विभिन्न प्रकार की छवियों के निर्माण---से 'सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, वैधानिक एवं नैतिक ताने-बाने की स्थिरता या अस्थिरता' पर गहरा असर पड़ता है। सवाल यह है कि वे कौन से तत्व हैं जो मीडिया को कुशल बनाते हैं और वे कौन से हालात हैं जिनकी वजह से मीडिया का सामाजिक प्रभाव पैदा होता है। इसकी व्याख्या तकनीकी प्रगति और वैश्वीकरण की प्रक्रिया के दायरे में ढूंढी जानी चाहिए। हालांकि सतही तौर पर दोनों के बीच संबंध भले न दिखता हो लेकिन ये दोनों बातें एक-दूसरे से गहरे तौर पर जुड़ी हुई हैं। अलग-अलग चलते हुए भी मीडिया और वैश्वीकरण दोनों एक-दूसरे से खुराक पाते हैं और दोनों मिलकर इंसानी अस्तित्व पर गहरा असर डाल रहे हैं। दोनों के बीच एक दिलचस्प समानता है। दोनों ही ऐसी प्रक्रियाएं हैं जो तभी से चली आ रही हैं जबसे मनुष्य ने सामाजिक समूहों में जीना शुरू किया था। शुरुआत में ये प्रक्रियाएं बहुत धीमी और छोटी थीं। उन्हें पकड़ पाना मुश्किल था। लेकिन, अगर वैश्वीकरण को "एकीकरण और घुलने-मिलने" की प्रक्रिया माना जाता है तो अलग-थलग रहने वाले कबीले भी प्राचीन काल से कमोबेश यही करते आ रहे हैं। ये कबीले समय-समय पर विचार-विमर्श के लिए इकट्ठा होते हैं। नए अवसरों की तलाश में कारोबारी समुदाय दूर-दूर तक आते-जाते हैं। अपने धार्मिक विश्वासों को फैलाने के लिए धर्मप्रचारक महाद्वीपों की सीमाएं पार कर जाते हैं। योद्धा कबीलों के लोग नित नई फतह के लिए नए-नए इलाकों में जाते हैं। ये सभी अलग-अलग समुदायों के परस्पर एकीकरण की प्रक्रियाएं हैं। संचार एवं आर्थिक गतिविधियों से पैदा होने वाली बाधाओं के बावजूद स्थानीय से क्षेत्रीय और क्षेत्रीय से राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया चलती रहती थी। इसी तरह का एकीकरण आज राष्ट्रीय से वैश्विक दिशा में होता दिखाई देता है।

इस लिहाज से सामाजिक जीवन के ये दो सिरे दिखाई देते हैं : (क) छोटी सामुदायिक कबीलाई इकाईयां (बकौल टोनीज़, *'हंउमपदेबींजि'*) जहां सब लोग एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते थे; तथा (ख) एक *वैश्विक गांव* का जीवन जिसमें हरेक का अस्तित्व वैश्विक प्रतीत होता है। इससे द्रुत बदलावों को गति मिलती है और परिवर्तन की रफ्तार समाज में मंथन की एक ऐसी प्रक्रिया शुरू करती है जिससे कुछ को लाभ होता है तो औरों को नुकसान होता है। यानी कुछ विजेता और बाकी पराजित होते हैं। इससे बेहिसाब तनाव भी पैदा होते हैं जो सामाजिक टकरावों को जन्म देते हैं।

वैश्वीकरण के हिमायतियों ने समझ लिया है कि दूसरे राष्ट्रों को अपना उपनिवेश बना लेने से आर्थिक फायदे तो होते हैं लेकिन बदले में भारी राजनीतिक कीमत भी चुकानी पड़ती है जबकि आर्थिक रूप से शक्तिशाली देशों के नेतृत्व में आर्थिक वैश्वीकरण के बदले कोई ज्यादा राजनीतिक नुकसान उठाना नहीं पड़ता। वैश्वीकरण का मतलब है वस्तुओं, सेवाओं और पूंजी का राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार मुक्त प्रवाह और राष्ट्रीय उद्यमों का निजीकरण। पिछले दो दशकों में कंप्यूटर एवं दूरसंचार प्रौद्योगिकियों में आई क्रांतियों ने विश्व अर्थव्यवस्था के एकीकरण को भारी गति प्रदान कर दी है। गौर करने वाली बात यह है कि इन प्रौद्योगिकियों ने उत्पादकता में इजाफा नहीं किया है। 'यद्यपि उत्पादन प्रक्रिया के कुछ आयाम पहले से ज्यादा कुशलता से संपन्न होने लगे हैं लेकिन उत्पादकता में कोई खास इजाफा दिखाई नहीं देता। मिसाल के तौर पर, अब रेलवे स्टेशनों पर आरक्षण भले पलक झपकते ही मिल जाता है लेकिन रेलगाड़ियां अब भी वैसी ही लेट-लतीफ चलती हैं जैसे पहले चलती थीं।'

पुराने जमाने से ही 'संचार क्षमता एवं सांस्कृतिक रूपों का विकास एक सामाजिक जरूरत बन चुका था जिसमें संबंधों और विश्वासों, मूल्यों और इच्छाओं का एक जटिल जाल समाया होता था और वही संस्कृति का केंद्र होता था (पेरेज़ दि कुइयार, *अवर क्रिएटिव सोसायटी,* यूनेस्को रिपोर्ट)।' संगीत, शायरी, नृत्य नाटिकाएं, धार्मिक व नैतिक विचार, चित्रकारी, ड्रामा, वास्तुशिल्प और दस्तकारी को मनुष्य की सांस्कृतिक रचनाओं में शुमार किया जाता है। लेकिन पहले इनके संचार और प्रसार के माध्यम बहुत कम थे। जो थे वे भी मुख्य रूप से मौखिक माध्यम थे। जाहिर है भौगोलिक और सामाजिक दृष्टि से उनकी पहुंच बहुत कम थी। फलस्वरूप बेहिसाब सांस्कृतिक विविधता पैदा हुई। यह इस बात का परिणाम था कि ज्यादातर समुदाय एक-दूसरे से कटे हुए थे और प्रभावी संचार का कोई साधन उनके पास नहीं था। पूरे मानव

इतिहास में दूर तक जाने और ज्यादा से ज्यादा लोगों से ताल्लुक कायम करने की कोशिशें या तो शांतिपूर्वक संपन्न हुई हैं या भीषण हिंसा के रास्ते परवान चढ़ी हैं। जब लोग एक-दूसरे के संपर्क में होते हैं---खासतौर से प्रत्यक्ष निजी संपर्क में---तो वे कुछ साझा अर्थों, साझा परिभाषाओं, साझा मूल्यों को अपनाने लगते हैं। उनके बीच भावनात्मक बंधन एवं सामाजिक सत्ता पुख्ता होने लगती है। जन माध्यम भी साझा अनुभवों के आदान-प्रदान के जरिए श्रोताओं को समूह के नजदीक लाने की कोशिश करते हैं। लेकिन ऐसा करते हुए ये माध्यम *संचार की ऊपर से नीचे की दिशा में केंद्रित लंबवत् कार्यनीति अपनाते हैं।* उसमें *आमने-सामने या क्षैतिज संचार* की गुंजाइश नहीं होती।

यहां पल भर ठहर कर, '*संस्कृति*' की सोच को जांचना-परखना जरूरी है। संस्कृति एक जटिल परिघटना है। इसकी कोई एक परिभाषा देना आसान नहीं होगा। कुछ मानवशास्त्रियों का अनुमान है कि अब तक संस्कृति की 164 परिभाषाएं सामने आ चुकी हैं। बहरहाल, मोटे तौर पर इसका आशय समाज के सदस्य की हैसियत से मनुष्य द्वारा ग्रहण की गई 'क्षमताओं और आदतों' (ई. बी. टेलर, *प्रिमिटिव कल्चर*) से होता है। संस्कृति किसी भी तरह की अस्त-व्यस्तता और टकरावों के समय कवच का काम करती है। ज्ञान प्रणालियां, भाषाएं, विचार, मान्यताएं, रीति-रिवाज, संहिताएं, धर्म, नैतिकता, संस्थान, परिवार, कानून, कलाकृतियां और ऐसी हर चीज संस्कृति की परिधि में आती है जिसके जरिए मनुष्य जीता है और अपने अस्तित्व को नियंत्रित करता है। संस्कृति में एक संक्रामक गुण होता है। सांस्कृतिक गुणों/खासियतों को लोग एक-दूसरे से फौरन अपना लेते हैं। क्योंकि संस्कृति के सभी तत्व एक-दूसरे से जुड़े होते हैं इसलिए किसी सांस्कृतिक व्यवस्था में मामूली सा भी बदलाव आने पर अन्य सांस्कृतिक प्रणालियों पर भी गहरे असर पड़ते हैं। दीदेरॉ, रूसो, कॉंट, मैथ्यू आर्नल्ड आदि मानवतावादी विचारकों के मुताबिक संस्कृति प्राकृतिक, जैविक, रचनाशील, और सच्ची भी हो सकती है और वह कृत्रिम, यांत्रिक, रूढ़, सतही, दासभावी, मस्तिष्कहीन, भ्रष्ट और अलगावग्रस्त भी हो सकती है। एक क्षण के लिए विषयांतर करें तो यहां यह कहा जा सकता है कि यह ऐसे गुणों का पहला समूह है जो *साझी विरासत* की अवधारणा के निकट पहुंचता है। रेमंड विलियम्स (*कल्चर एंड सोसायटी, 1780-1950*) का मानना है कि संस्कृति का आधुनिक अर्थ अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में ही सामने आया है क्योंकि इससे पहले तक संस्कृति का मतलब सिर्फ जमीन जोतने तक सीमित था : (1) आधुनिक काल में इसका मतलब मस्तिष्क की सामान्य दशा या आदतों के अर्थ में लिया जाने लगा; (2) इसने पूरे समाज के पैमाने पर सामान्य बौद्धिक स्तर को चिन्हित करना शुरू कर दिया; (3) इसने कला संपदा को इंगित किया; (4) सदी के आखिर में यह भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक---समूचे जीवनदर्शन को इंगित करने लगा।

मैथ्यू आर्नल्ड का कहना है कि "लोकतंत्र, औद्योगीकरण और मशीनीकरण के युग में संस्कृति का विकास समाज को आत्मध्वंस की ओर बढ़ने से रोकने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।" महान दक्षिण अमेरिकी सभ्यता को लगभग नष्ट करने की स्थिति में जा पहुंचे एक बर्बर स्पेनियार्ड कोर्तेस का उदाहरण देते हुए त्सेवेतान तोपोरोव (*दि कॉन्क्वेस्ट ऑफ़ अमेरिका*) ने कहा है : "औरों की भाषा तथा औरों की राजनीतिक संरचना का ज्ञान हासिल करने के लिए कोर्तेस उनकी खाल में घुस जाता है।" लेकिन ऐसा करते हुए वह कभी भी अपनी श्रेष्ठता के अहसास को नहीं त्यागता। इसके बाद दूसरे चरण में वह सिर्फ अपनी पहचान पर जोर देकर ही संतुष्ट नहीं है बल्कि इंडियन्स को भी अपनी दुनिया में समाहित करने के लिए उद्यत हो जाता है। "कोर्तेस की फतहों से जो सबक निकले उन्हें तमाम उपनिवेशकारों ने आत्मसात कर लिया है। मीडिया के नेतृत्व में चल रहे सांस्कृतिक साम्राज्यवाद ने भी इन सबकों को खूब इस्तेमाल किया है। तलवार हाथ में लिए चलने वाले पुराने नृशंस विजेता की जगह अब विद्वान, पुजारी और व्यापारी की त्रिमूर्ति ने ले ली है। विद्वान उस इलाके के बारे में जानकारियां इकट्ठा करता है जिस को जीता जाना है, पुजारी उसके *आध्यात्मिक अधिग्रहण* का रास्ता साफ करता है और व्यापारी मुनाफे से अपनी तिजोरियां भरता है। आज के संदर्भ में इस त्रिमूर्ति को मोटे तौर पर '*बाजार शोधकर्ता*', '*विज्ञापनकर्मी*' और '*पूंजीवादी*' के रूप में समझा जा सकता है। चाहे आप इसे 'अंतर्सांस्कृतिक सहमेल' कहें या आधुनिकीकरण का नाम दें, सच्चाई यह है कि ये सब '*सांस्कृतिक साम्राज्यवाद*' के ही सूक्ष्म रूप हैं। संस्कृति एवं विकास पर केंद्रित यूनेस्को की एक रिपोर्ट के मुताबिक : "लद्दाख से लिस्बन तक, चीन से पेरू तक; पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में---वेशभूषा, जीन्स, बाल काढ़ने के तरीके, टी-शर्ट्स, जॉगिंग, खाने की आदतें, संगीत के सुर, यौनिकता के प्रति रवैये, सब वैश्विक हो गए हैं। यहां तक कि नशीली दवाइयों से संबंधित अपराध, औरतों के साथ दुराचार व बलात्कार, घोटाले और भ्रष्टाचार भी सरहदों को पार करके वैश्विक रूप धारण कर चुके हैं। वैश्वीकरण और उदारीकरण के अंतर्निहित वैचारिक आधार को 'मुक्त बाजार', 'प्रगति' और 'बौद्धिक स्वतंत्रता' जैसे विचारों की देन माना जा सकता है जो एक खास तरह के सांस्कृतिक परिवेश का हिस्सा होते हैं। इस प्रकार हमें मुट्ठी भर विकसित राष्ट्रों के वर्चस्व वाली समरूप वैश्विक संस्कृति में घुल-मिल जाना पड़ता है ताकि वैश्वीकरण और उदारीकरण के अधिकतम लाभ पा सकें। इसका नतीजा यह होता है कि राष्ट्रीय संस्कृति और लगातार घुसपैठ करती वैश्विक संस्कृति के बीच तनाव पैदा होता जाता है। और भी चिंताजनक बात यह है कि महानगरीय केंद्रों से नियंत्रित होने वाली क्षेत्रीय उपसंस्कृतियों को भी मीडिया अपने दबदबे में ले लेता है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया कुछ खास सिद्धांतों पर चलती है : बाजार सब कुछ जानता है (व्यक्तिवाद); व्यक्ति जो चाहता है उसे मिलना चाहिए ताकि वह संतुष्ट रहे, भले वह पोर्नोग्राफी ही क्यों न मांगे (भोगवाद)। कहने का मतलब यह है कि इससे विविध संस्कृतियों में बनावटी समरूपता पैदा होती है जिससे मानव सभ्यता दरिद्र होने लगती है।

आगे बढ़ने से पहले कुछ ऐसे हानिकारक आयामों को रेखांकित करना बेहतर होगा जो बाजार और मीडिया के बीच नाभि-नाल रिश्तों को मजबूत बनाते हैं और वैश्विक संस्कृति को जन्म देते हैं।

1. संदेश देने वाले के लिए लक्ष्य श्रोता अदृश्य रहता है जिसके चलते संदेशों को श्रोताओं के हिसाब से जैसे चाहे काटा-छांटा जा सकता है। इस प्रकार जो सूचना आगे बढ़ाई जा रही है उसको विविधता की बजाय सामान्य मानकों की कसौटी पर कसा जाता है। किसी लोक कला के एक रूढ़ मीडिया प्रस्तुतिकरण में सामान्य संरचना पर जोर दिया जाएगा लेकिन किसी इलाके के अलग-अलग हिस्सों में प्रचलित बारीक चीजों को छोड़ दिया जाएगा और जिज्ञासु दर्शकों को कुछ खास सीखने का मौका नहीं मिल पाएगा। यह सामान्यीकृत प्रक्रिया एक अवधि के बाद मानक बन जाती है जिसे हर अनुगामी को अपनाना होता है। यही बात भाषा पर भी खरी उतरती है। सभी जानते हैं कि भाषा अपने क्षेत्र और वहां की स्थानीय खासियतों को साथ लिये चलती है। इस प्रकार मीडिया में एक तटस्थ किस्म की भाषा को बढ़ावा दिया जाता है ताकि अलग-अलग अवधियों में तरह-तरह के दर्शकों और श्रोताओं से बात की जा सके। इस प्रकार एक खास किस्म की भाषायी अभिव्यक्ति सार्वभौमिक मॉडल बन जाती है।
2. दर्शकों और श्रोताओं के विविध स्वरूप को देखते हुए संदेश देने वाला विमर्श के स्तर को निम्नतम साझा स्तर पर ले आता है ताकि ज्यादा से ज्यादा लोग उसे समझ सकें। जाने-माने पत्रकार कार्ल बर्न्सटीन के मुताबिक इससे एक "टाइम इडियट संस्कृति" पैदा होती है। जैसा कि वह कहते हैं, "इतिहास में पहली बार सबसे बेतुके, सबसे बेवकूफ और सबसे भद्दी चीजें हमारे सांस्कृतिक प्रतीक यहां तक कि हमारे सांस्कृतिक आदर्श बनती जा रही हैं।" ज्यादा से ज्यादा दर्शकों तक पहुंचने के लिए मीडिया सतही, पची-पचायी, आसानी से समझ में आने वाली खुराक बेचती है। वास्तव में टेलीविजन का पर्दा, मनोरंजक अखबार और चमकदार पत्रिकाओं ने आलोचनात्मक पड़ताल और विचार-विमर्श की संभावनाओं को तार-तार कर डाला है। एक समय के बाद दर्शक भी इसी तरह की सूचनाओं के पीछे पागल होने लगते हैं। दर्शक जटिल समस्याओं के सरल जवाब ढूंढना चाहते हैं और जटिल व सूक्ष्म परिघटनाओं में दिलचस्पी दिनोंदिन घटने लगती है। दिनों-दिन में रुचि छोड़ कर लोग हल्के-फुल्के कामों में जाने लगते हैं और नई पीढ़ी में विश्लेषण की उतनी गहरी क्षमता नहीं बचती।
3. आकार और विशाल स्तर से संचालित होने वाला मीडिया अक्सर अल्पसंख्यकों और हाशियाई तबकों की रुचियों और हितों को प्रायः अनदेखा कर देता है। स्थानीय तत्व वैश्विक मीडिया के साथ कोई असरदार प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते।
4. मानव इतिहास के लंबे काल में स्वाभाविक रूप से उपजे सांस्कृतिक रूप जन माध्यमों के फलस्वरूप अस्तित्व में आए अनूठे संचार माध्यमों के कारण बदल गए हैं और उन्हें बिल्कुल अलग उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा है। मसलन, प्रारंभिक दौर में धर्म उस असीम ईश्वर के साथ मेल का एक साधन था लेकिन अब यह राजनीतिक गोलबंदी का उपकरण बन चुका है।
5. तमाम परंपरागत संस्कृतियां नैतिक आचरण की आधारशिला पर खड़ी होती थीं। मीडिया एक ऐसे प्रतिस्पर्धी विश्व में काम करता है जहां कवरेज और मुनाफा बढ़ाने के लिए हर रास्ता जायज है। मीडिया के ज़रिए आने वाली सूचना हमेशा एक खास नज़रिये से लैस होती है और घटना के कुछ सनसनीखेज और अजीबोगरीब आयामों को खासतौर से बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता है जिससे किसी नैतिक आग्रह की कोई जरूरत बाकी नहीं रहती।
6. प्राचीनकाल से ही साहित्य और किंवदंतियां लोगों के '*विश्वसनीय अनुभव*' का हिस्सा रही हैं। जैसा कि एक विद्वान ने कहा है, समय की मांग यह है कि 'वर्तमान के अभिलेखागार' को पढ़ने की एक तकनीक विकसित की जाए; सिर्फ दर्शन, इतिहास और राजनीति को ही नहीं बल्कि चाक्षुक, श्रव्य, चित्रित, कल्पित और स्वरित पाठों को भी पढ़ा जाए जो हालिया इतिहास का हिस्सा हैं। लेकिन दूसरी तरफ एक स्याह पक्ष है जिसमें कुछ अच्छी बातें भी हैं। यह पक्ष है सार्वभौमिक मूल्यों के उदय का। जिन समाजों में पर्यावरण या लैंगिक संवेदनशीलता या मानवाधिकारों का खयाल नहीं किया जाता था उन्हें भी न केवल भीतर से बल्कि दुनिया के अलग-अलग हिस्सों से विरोध और संशय का सामना करना पड़ रहा है। इसमें कोई शक नहीं कि दुनिया भर में ये चिंताएं गरीबी और शोषण के उन्मूलन जैसे सवालों पर आंदोलन छेड़ रहे एक छोटे से तबके की तरफ से ही उठ रहे हैं। लेकिन फिर भी सिएटल या जिनेवा में प्रदर्शनकारियों की विशाल भीड़ को सिर्फ मुट्ठी भर भटके हुए लोगों की कहानी कहकर खारिज नहीं किया जा सकता।

एक जीवनशैली के रूप में संस्कृति लगातार बदलती जा रही है। आधुनिक काल में कुछ घटनाओं ने परिवर्तन की इस प्रक्रिया को बहुत तेज कर दिया है जिसके भयानक परिणाम पैदा हुए हैं : (क) सांस्कृतिक विविधता में कमी आई है; (ख) एक दूसरे की पहचान तय करने के लिए हर रोज इस्तेमाल होने वाले जातीय, भाषायी, क्षेत्रीय, धार्मिक एवं बहुसांस्कृतिक आयामों के ऊपर '*मुक्त व्यापार*' तथा '*संचार की स्वतंत्रता*' के नाम पर वर्चस्वशाली नियंत्रण कायम हुआ है। इस बदलाव के निहितार्थ बहुत तरह के हैं और इस बात के कोई संकेत दिखाई नहीं देते कि उनकी वजह से किसी भी तरह मानवता की सामाजिक, भौतिक या आध्यात्मिक कुशलक्षेम में

इजाफा हो रहा है। इन पहचानों को भारतीय समाज के बहुलवाद और बहुगुणकता के आधार पर समझा जाना चाहिए जो एक व्यापक '*साझा सहमति*' के रास्ते पर चल रहा है। जहां एक तरफ आधुनिकता के ज़रिए सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में पहचान के कई टकराव अपरिहार्य हैं वहीं दूसरी तरफ जातीय नियमों को चुनौती दी जा रही है, धर्म से संबंधित परापहचानों की निर्मित की प्रक्रिया गहरे खतरों से भरी हुई है। दैनिक जीवन में सामूहिक पहचानों की सामाजिक वरीयता को देखते हुए भारतीय संदर्भ में '*व्यक्तिगत पहचान*' के बारे में सोचना या सिद्धांत बनाना एक कठिन कार्य है।

अब हम वैश्वीकरण और मीडिया के कुछ हानिकारक प्रभावों पर विचार करेंगे जिनसे इंसानियत के भविष्य के लिए विनाशकारी परिणाम सामने आ सकते हैं।

मानकीकृत और समरूप उपभोक्ता संस्कृति की दुनिया में पांव न जमा पाने के कारण, अपनी इच्छाओं को पूरा न कर पाने और सदियों पुरानी विरासत के साथ तनावपूर्ण संबंधों के चलते आज युवाओं को उनकी जातीय, धार्मिक एवं राष्ट्रीय पहचानों के आधार पर एकजुट किया जा रहा है। इसकी वजह से बेहिसाब तनाव पैदा हुए हैं। इन टकरावों की पड़ताल करने पर पता चलता है कि ये टकराव संपदा और सत्ता के असमान वितरण से उपजे हैं। वैश्विक आर्थिक पुनर्गठन के कारण भारी रोजगार कटौती और बेरोजगारी ने आर्थिक गैरबराबरी और सामाजिक असंतोष बढ़ा दिया है। इन हालात में एक ऐसा माहौल पैदा किया है जहां पहचानों पर खतरा दिखाई देने लगा है। वर्ग आधारित राजनीति में आ रही गिरावट के कारण आम युवा कट्टरवादी आंदोलनों का शिकार बनते जा रहे हैं। शक्तियों के उपरोक्त समीकरण में कट्टरपंथी धार्मिक आंदोलन वैश्वीकरण की प्रक्रिया के पराजितों को एकजुट करके आगे बढ़ता है। कोई अचरज की बात नहीं है कि कट्टरपंथी धार्मिक आंदोलनों का सामाजिक आधार मोटे तौर पर गरीब और वंचित तबके ही रहे हैं जिन्हें अपनी लुप्त पहचान और आर्थिक स्थिरता पाने के लिए इन आंदोलनों के अलावा और कोई सहारा दिखाई नहीं देता।

इस बारे में उदाहरणों की कोई कमी नहीं है। दक्षिण एशिया में सबसे बड़ा इस्लामिक मदरसा देवबंद में स्थित है जिसके तहत आने वाले मदरसों के एक विशाल नेटवर्क में एक जैसे पाठ्यक्रम के ज़रिए जेहादियों को बढ़ावा दिया जा रहा है। पूरे भारत में 8,934 देवबंदी मदरसों के इस नेटवर्क और पाकिस्तान में फैले कई नेटवर्कों ने कट्टरपंथी धार्मिक सोच को फैलाने में भारी भूमिका अदा की है। तालिबान के लिए पाकिस्तान में स्थित देवबंदी मदरसे अपने कारकूनों की भर्ती के लिए सबसे बढ़िया ठिकाना साबित हुए हैं। इस्लाम की देवबंदी सोच मूल इस्लामिक पाठों की श्रेष्ठता पर जोर देती है और सूफियों के विपरीत '*साझेपन*' की हर निशानी को नेस्तनाबूद कर देना चाहती है। उल्लेखनीय है कि सूफी परंपरा सामयिक और स्थानीय संस्कृति को बढ़ावा देती रही है। 1857 के जन विद्रोह के बाद देवबंद को एक ऐसी परंपरावादी संस्था के रूप में खड़ा किया गया था जो ईसाई मिशनरियों और पश्चिमी शिक्षा के हमले का मुकाबला कर सके। देवबंद के संस्थापकों का मानना था कि इनकी वजह से उनका धर्म कमजोर पड़ सकता है। **विडंबना यह है कि साम्राज्यवाद की चुनौती का यह त्रिपक्षीय जवाब और अलीगढ़ स्थित एमएओ कॉलेज के तहत आधुनिक शिक्षा और लखनऊ स्थित नदवातुल उलेमा के तहत परंपरागत और आधुनिक के बीच समन्वय दिखाई देता है।** इसके बाद से देवबंदी मदरसे गरीब और असंतुष्ट मुस्लिम युवाओं को भर्ती करते चले जा रहे हैं। धार्मिक आधार पर भर्ती की ऐसी ही प्रक्रिया राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, उसके उग्र संगठनों और हिंदू श्रेष्ठता पर आधारित उसके शैक्षणिक संस्थानों में दिखाई देती है। लंबे समय से तनावग्रस्त कश्मीर का उदाहरण लीजिए। वहां सूफी त्यौहार (उर्स) और आध्यात्मिक उत्सव दोबारा आयोजित होने लगे हैं। इसे जड़ों की दोबारा तलाश और अपनी साझा संस्कृति की चाह का परिणाम माना जा रहा है जो राजनीतिक पहचानों की अस्थिरता के मुकाबले ज्यादा स्थिर है। यहां तक कि ध्रुवीकरण के मौजूदा हालात में भी आस-पास के बहुत सारे लोग सदियों पुरानी सूफी परंपरा द्वारा पढ़ाए गए सार्वभौमिक प्रेम के पाठ का अनुसरण करते हुए अपने कष्टों को दूर करने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसे हालात में आसिया अंदराबी नाम की एक औरत हमारे सामने आ जाती है। वह दुख्तरे मिल्लत की मुखिया है और नैतिकता की स्वयंभू थानेदार है। उसके नेतृत्व में स्वयंभू नैतिक पुलिसिये अपने किस्म की आचार-संहिता लागू करने के लिए छापामारी कर रहे थे। उन्हें हुड़दंग मचाने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया और उसके 6 साथियों को भी गिरफ्तार किया गया क्योंकि उन्होंने होटल में बैठी एक महिला को भी नहीं बख्शा जबकि वह अपने पति के साथ बैठी थी। यह सब कुछ एक ऐसी जगह हो रहा था जहां हिंदू सूफी शायरा लाल देद और नंद ऋषि जैसे मुस्लिम संत, दोनों को बराबर इज्जत से पूजा जाता है।

हाल के सालों में सामुदायिक समूहों द्वारा राष्ट्र राज्यों पर हमले बढ़ गए हैं। जहां कहीं भी अहमन्यवादी और अंधराष्ट्रवादी एजेंडा का सत्ता पर कब्जे के लिए राजनीतिक इस्तेमाल किया गया है वहां दूसरे सामुदायिक समूहों के खिलाफ बर्बर हिंसा और दहशत का नंगा नाच हुआ है। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के बहुत सारे इलाकों में सामुदायिक, धार्मिक एवं भाषायी पहचानों पर आधारित कट्टरपंथी आंदोलन मौजूदा राज्यों की एकजुटता को तरह-तरह से चुनौती दे रहे हैं। इन आंदोलनों की मांगें बड़ी अलग-अलग हैं : कुछ सामुदायिक आंदोलन और ज्यादा स्वायत्तता चाहते हैं जबकि कुछ पूरी स्वतंत्रता की मांग कर रहे हैं। बहुत सारे सामुदायिक टकराव और गृह युद्ध दुनिया के सबसे विपन्न इलाकों में हो रहे हैं। इस दशक में वैचारिक आधारों की बजाय सामुदायिक कारणों से ज्यादा युद्ध हुए हैं। 80 के दशक के आखिर और 90 के दशक के शुरुआती सालों में सामुदायिकता पर आधारित नए राज्यों की स्थापना में भारी इजाफा हुआ है। सोवियत संघ और यूगोस्लाविया के विखंडन के बाद 20 नए राज्यों का उदय इसकी एक मिसाल है। यह रुझान भविष्य में भी जारी रहेगा ऐसा दिखाई देता है।

साझी विरासत : पांच वर्षों का सफर

■ श्रुति चतुर्वेदी

दक्षिण एशिया में तनाव की प्रकृति लगभग समान है और शायद ही कोई तनाव होगा जो इस क्षेत्र में नहीं देखा हो। जातिगत तनाव, सांप्रदायिक तनाव, लिंगभेद से उभरने वाले तनाव, नस्ल व प्रजाति आधारित तनाव और सरमायादारों तथा शोषितों के बीच का तनाव। आप नाम लीजिए और वह हाज़िर है। हम हिंसक तनाव झेलते हैं, हम अहिंसक तनाव झेलते हैं, हम ऐसे तनाव भी अनुभव करते हैं जो कि काफ़ी मुखर हैं और ऐसे भी जो कि धीरे-धीरे हमारी मानसिकता में पनपते हैं जिसकी झलक हमें समाज के आचरण में देखने को मिलती है। भारत की भी स्थिति कोई भिन्न नहीं है जहां हम पिछले कई सालों से हिंसक तनावों से रू-ब-रू हुए हैं। सांप्रदायिक झड़पें आम बात हैं, और जातिगत तथा लिंगभेद आधारित दमन की भी वही स्थिति है। आज इन तनावों में हर तरफ़ भारी इज़ाफे के साथ-साथ इनका रूप भी काफी निर्मम हो चला है।

जनता हर तरफ से शारीरिक व मानसिक आतंक का सामना कर रही है, जिसके लिए राजकीय तथा गैर-राजकीय कारकों ने कोई कमी नहीं उठा रखी है। एक तरफ़ आम जनता ऊपर गिनाए गए तनावों की चक्की में पिसती है और दूसरी तरफ़ राज्य के पास भी ऐसा ही करने के अपने तरीके हैं, चाहे वो सलवा जुडूम हो, चाहे उत्तर-पूर्वी राज्यों व जम्मू-कश्मीर में सैन्य मौजूदगी, या फिर मुक्त व्यापार और मूलभूत वस्तुओं के लगातार बढ़ते मूल्य।

चलिये अब हम विभिन्न तरह के सामाजिक आतंक की ओर नज़र डालते हैं, जिसमें जातिवाद को ही लीजिए : दक्षिण भारत दशकों से जातिभेद के चंगुल में जकड़ा हुआ है। यहां न सिर्फ़ तथाकथित उच्च जाति व निम्न जाति के बीच में तनाव है बल्कि दलित समुदायों के मध्य भी काफ़ी तनाव हैं। ऐसे भी कुछ उपजाति समूह हैं जिन्हें वर्ण-व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर रखा गया है जहां वे अत्याधिक शोषण, अपमान व यातना का शिकार बनते हैं। जाति व्यवस्था के हाशिये पर ढकेले हुए लोगों कि स्थिति कितनी बदतर हैं उसका जायज़ा कार्यशाला में बांटे गए अनुभव से ही हो जाता है- दक्षिण भारत के किसी हिस्से में दलितों तथा विजातियों को कुत्ता नहीं पालने दिया जाता है कि कहीं उनका कुत्ता उच्च जाति वालों की कुतिया से संपर्क बनाकर उसे अपवित्र ना कर दे।

दूसरा अनुभव एक महिला का था जिसे एक दलित से विवाह करने के कारण उसे अपने उच्च जातीय परिवार से बेदख़ल कर दिया गया। इन उदाहरणों से यह साफ़ हो जाता है कि लोग अपने दैनिक जीवन में किस तरह के अपमान व यातनाएं झेलते हैं। लैंगिक भेदभाव, छुआछूत आदि तनाव भी इस क्षेत्र के लिए नये नहीं हैं और धीरे-धीरे दक्षिणी भारत में दक्षिणपंथी उभार ने यहां सांप्रदायिक तनावों को भी हवा दी है तो कुल मिलाकर यहां तनावों की सूरत कुछ ऐसी है लेकिन, यह तस्वीर का सिर्फ़ एक पहलू है।

पूरे दक्षिण एशियाई क्षेत्र में और ख़ासकर भारत में विभिन्न प्रकार की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां तथा रिवाज़ मौजूद हैं जिनमें काफी समानताएं होने के बावजूद प्रत्येक की अलग पहचान है। यह सांस्कृतिक रूप, रिवाज़ व स्वरूप, धर्मनिरपेक्ष परंपराएं हमें वह ताक़त व मौके उपलब्ध कराते हैं जिनसे हम एक संवेदनशील इंसान के रूप में सहिष्णुता तथा सह-अस्तित्व को अपनाते हैं। विभिन्न संस्कृतियों तथा समुदायों के बीच समानतायें सामाजिक ताने-बाने को व्यवस्थित रखती हैं जिससे समाज में सांस लेने व जीवन-यापन करने की गुंजाइश बनी रहती है। हम अक़सर कहते हैं कि समाज में मिले-जुले प्रकार के लोग रहते हैं, ऐसे भी लोग हैं जो तनाव पैदा करते हैं और जनता में फूट डलवा कर फ़ायदा उठाते हैं, और ऐसे भी लोग हैं जो अमन व सह-अस्तित्व चाहते हैं। आज भी, अमन व इंसानियत चाहने वालों की संख्या ज़्यादा है अन्यथा कोई भी समाज उन ताक़तों के आगे नहीं टिक सकता जो तनाव, युद्ध व हिंसा फैलाते हैं। उदाहरणार्थ, दक्षिण भारत का इतिहास, भाषा, संस्कृति और जन-आंदोलन उन समृद्ध विरासतों की खान है जहां उत्पीड़ित वर्ग के हक में आवाज़ उठाई गयी। द्रविड़ संस्कृति की खासियत उसे दूसरी संस्कृतियों से अलग कर एक साझी विरासत भी बनकर उभरती है जहां तमिल भाषा की

प्राचीनता उनके गर्व का कारण बनती है। अतः इसी तरह के धागों से साझी विरासतों का ताना-बाना बुना जाता है ताकि जनता आपस में स्वस्थ संबंध बना कर ऐसे समाज का निर्माण करें जो अमन व साझेदारी पर खड़ा हो।

एक सशक्त आंदोलन अमन और धर्मनिरपेक्षता के लिए :

अनुभव बतलाते हैं कि हिंसक तनावों में हमारी पहली प्रतिक्रिया होती है बातचीत द्वारा मध्यस्थता करना, जिसके लिए काफ़ी उत्साह व संजीदगी से कई मंच उभर कर आते हैं। फिर जैसे-जैसे तनाव थमता है और स्थिति सामान्य होती है हमारी शांति की कोशिशें और मंच भी थम जाते हैं। शांति और धर्मनिरपेक्षता के आंदोलनों की मौजूदगी के बावजूद तनाव व अमन के विभिन्न आयामों पर काम करने वाले एक सशक्त व सुसंगत आंदोलन की ज़रूरत है। हम उस समय हस्तक्षेप करने की कोशिश करते हैं जब लोग कोई भी बात सुनने और समझने से इंकार कर देते हैं और कभी-कभी शांति स्थापित करने की बजाय हम तनाव को और भी उग्र बना देते हैं। ज़रूरत यह है कि तथाकथित शांति के माहौल के दौरान ही हम अमन के मुद्दों पर अपना ध्यान केन्द्रित करें। कभी-कभी हम अहिंसक तनाव की स्थिति को कमतर आंकते हैं और जब तक खून-ख़राबा तथा आगजनी ना देखें हम समझते हैं कि स्थिति सामान्य है लेकिन, इस 'शान्तिकाल' के दौरान नफ़रत की आग लगातार सुलगती रहती है जहां अपने और गैर की भावना लगातार फलती रहती है जिसका फायदा तनाव फैलाने वाली शक्तियां उठाती हैं। दरअसल हमें इसी तथाकथित शांतिकाल के दौरान अपनी शांति मुहिम को और तेज़ करना चाहिए।

साझी विरासत व हमारे अनुभव :

बांग्लादेश, भारत, नेपाल, पाकिस्तान, श्रीलंका में काफ़ी समानताएं हैं। यहां के समाज सदियों से सिर्फ़ अपने शोषण, दुःख व नैतिक अधिकारों से वंचना में ही नहीं जुड़े हैं बल्कि यह दुश्वारियां हमें एक-दूसरे से जोड़ती भी हैं। साथ ही, हमारे पास ऐसी कई सांस्कृतिक व ऐतिहासिक विरासतें हैं जहां हम एक-दूसरे के संघर्षों व खुशियों का त्यौहार मनाते हैं। उदाहरण के लिए पूरा दक्षिण एशिया नववर्ष एक साथ मनाता है जो कि कृषि चक्र से जुड़ा वैशाख नाम का त्यौहार है। यह उपमहाद्वीप अपनी स्वाधीनता के संघर्ष में एक साथ लड़ा था। दुर्गा पूजा भारत और बांग्लादेश मे एक साथ मनाया जाता है। सिनेमा एक और माध्यम है जिसके द्वारा हम एक-दूसरे से जुड़ते हैं (ऐसे ही हमारे पास लोक-कला और लोक-परंपरा का भरपूर खज़ाना है) बंगाल व बांग्लादेश का बाउल व नज़रूल गीती, पंजाब के बाबा फरीद, अजमेर के संत मोइनुद्दीन चिश्ती, दक्षिण भारत के महान संत व कवि थीलूवलूर, त्यागराज आदि कुछ ऐसे नाम हैं जो हमारे समाज की जीवंत मिसाल रहे हैं। वसंत का त्यौहार जो कि पूरे दक्षिण एशिया में मनाया जाता है वह निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य अमीर खुसरो ने प्रचलित किया था। कहते हैं, अपने भाई की मौत के बाद हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया शोकाकुल हो गये जिससे उनके शिष्य अमीर खुसरो काफी चिन्तित हो गये। इसी दौरान एक दिन अमीर खुसरो ने देखा कि कुछ लोग पीले कपड़े पहन कर गीत गा रहे हैं। पूछने पर उन्हें पता चला कि वे बसंत दिवस मना कर ग्रीष्म ऋतु का स्वागत कर रहे हैं। खुसरो को यह बात बहुत जंची और वे भी पीले कपड़े पहनकर औलिया साहब के सामने पहुंच गये। खुसरो को पीले कपड़ों में देखकर औलिया के चेहरे पर हंसी की लकीर उभरी और तभी से खुसरो इस दिन सभी समुदायों के लोगों को साथ लेकर इस त्यौहार को मनाने लगे। यह अमीर खुसरो ही थे जिन्होनें सितार, तबला तथा कव्वाली ईज़ाद की जिनका असर समुदाय, जाति, धर्म की सीमाओं को लांघ कर जाता है। इसी तरह कबीर, गुरु नानक और अन्य कई नाम हैं जो साझी विरासत के प्रतीक स्तंभ हैं। यहां यह कहना ज़रूरी होगा कि सारी साझी विरासतें समाज में सकारात्मक भूमिका नहीं निभाती हैं। अनुभव बतलाते हैं कि नकारात्मक तरह की भी साझी विरासतें होती हैं। वर्ण व्यवस्था के आधार पर समाज के एक हिस्से को दूसरा हिस्सा अपवित्र समझता है और यह मूल्य सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी दृढ़ होते हुए पूरे दक्षिण एशिया में किसी ना किसी रूप में मौजूद हैं। इसी तरह, पितृसत्ता का साया भी इस क्षेत्र पर छाया रहता है। इन मूल्यों को हम नकारात्मक साझी विरासत कह सकते हैं। लेकिन एक बात पर ध्यान देना ज़रूरी है शोषण और उत्पीड़न का लम्बा इतिहास होते हुए भी हमारे पास सह-अस्तित्व व सहिष्णुता की भी सदियों पुरानी परंपराएं हैं जो कि हमारी साझी विरासत का इतिहास हैं।

हमारे अनुभव :

पिछले चार सालों में हमारी कार्यशालाओं में कई समुदायों व अलग-अलग सामाजिक परिस्थितियों से लोग आते हैं जहां से हम अपने अनुभव ग्रहण करते हैं। कार्यशाला में प्रतिभागी दूसरे देशों व धर्मों पर पूर्वधारणा बनाए हुए होते हैं जो कि उनके परिवेश द्वारा निर्धारित होती है। कार्यशाला में चर्चा के दौरान व उनके व्यवहार से हमें उनकी आशंकाएं, विचार और धारणाएं

जानने का मौका मिलता है। ज्यों-ज्यों आपसी समझ की प्रक्रिया आगे बढ़ती है प्रतिभागी इस हक़ीकत को भी समझने लगते हैं कि हम किस तरह एक मानवीय संस्कृति व जीवन शैली से आपस में जुड़े हैं। फिर यह विचार उनके व्यवहार में भी झलकने लगता है जो उन्हें दूसरी संस्कृति व पृष्ठभूमि से आए अन्य प्रतिभागियों से जुड़ने के लिए उकसाता है। यह बात आगे कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जाएगी।

बांग्लादेश :

इस संदर्भ में ढाका, बांग्लादेश में हुई दक्षिण एशियाई स्तर की कार्यशालाओं के अनुभव काफ़ी लाभकारी रहे। दोनों ही कार्यशालाओं में भारत, पाकि़स्तान और बांग्लादेश से आये प्रतिभागी एक-दूसरे के प्रति आशंकाओं से घिरे थे। ऐसी ही एक घटना है कि बांग्लादेश के साथी जब बालीबॉल खेल रहे थे तो पाकिस्तान के सहभागियों को काफ़ी धक्का लगा। जब उन्होनें भी साथ खेलने की पेशकश की जिसको बांग्लादेशी साथियों ने यह कहकर ठुकरा दिया कि वे पाकिस्तानियों के साथ नहीं खेलते हैं। इससे पता चलता है कि लोगों के अन्दर कितनी नफ़रत भरी होती है। परन्तु कार्यशाला के संपन्न होने तक बांग्लादेश की जहांआरा परवीन ने पाकिस्तानी साथियों से काफ़ी घनिष्ठता बढ़ा ली। बाद में उन्होंने जहांआरा का साक्षात्कार लिया जो कि हमारे दक्षिया एशिया साझी विरासत पत्रिका में भी छपा। इसी तरह साझी विरासत पर कार्यशाला के दूसरे चक्र में यह साफ़ दिख रहा था कि बांग्लादेशी साथी भारत को साम्राज्यवादी देश के रूप में ले रहे थे और 1971 के युद्ध के फलस्वरूप पाकिस्तान के प्रति भी उनकी तल्खियां साफ़ की थी। खुद भारत और पाकिस्तान के सहभागियों के बीच जम्मू-कश्मीर और आतंकवाद पर कोई समान राय नहीं क़ायम कर पाए। लेकिन कार्यशाला के तीसरे दिन अनोखी बात हुई, पाकिस्तान से आये जावेद नाम के साथी ने लोककलाओं के विविध रूपों पर प्रस्तुति के दौरान मंच पर अपनी टीम के साथियों को बुलाकर बांग्लादेश के साथियों व वहां की जनता से अपनी सरकार द्वारा की गयी गल्तियों के लिए एक स्वर में माफ़ी मांगी और बांग्लादेशी सहभागियों को दोस्ती का न्यौता दिया। फिर पाकिस्तान से आए बशारत ने एक सूफ़ी गीत प्रस्तुत किया जिसे दोनों ही देश के साथियों ने मिलकर गाया। कहना न होगा कि इस भावुक दृश्य के बाद कार्यशाला का रूप और निखर आया।

दक्षिण भारत :

दक्षिण भारत में हमारी पहली कार्यशाला में कॉर्नर स्टोन नामक संगठन के साथ चलाए गये सहभागी कार्यक्रम के दौरान हमारा उनके कार्यकर्ताओं के साथ विचारों का काफी आदान-प्रदान हुआ कि किस तरह साझी विरासतें अमन और मैत्री के महत्वपूर्ण औज़ार हैं। फलस्वरूप, कार्यशाला के सहभागी एक-दूसरे व आई.एस.डी. की टीम से मिलने के लिए मार्च में मदुरई में होने वाले 'दलित कलईवेड़ा' नामक दलित मेले में पुनः इकट्ठा हुए।

मणिपुर :

मणिपुर में कार्यशाला के दौरान एक और अनुभव प्राप्त हुआ- साझी विरासत के विभिन्न रूपों पर प्रस्तुतिकरण के दौरान एक समूह ने कांग्ला के किले को पहले तो अपनी विरासत में गिना परन्तु समूह चर्चा में कूकी व नागा साथियों ने कहा कि वे कांग्ला के क़िले को अपनी साझी विरासत नहीं मानते क्योंकि उसे मैतैयी राजा ने बनवाया था। जब यह कहा गया कि लालकिला भी मुग़ल शासक ने बनवाया था परन्तु हम उसे अपनी साझी विरासत का हिस्सा मानते हैं। काफ़ी लम्बी चर्चा के बाद कूकी और नागा साथी माने कि यदि वे खुद को कूकी या नागा की बजाय मणिपुरी समझें तो कांग्ला दुर्ग उनकी साझी विरासत होगी। यह द्योतक थी इस बात की कि वे स्वयं को मणिपुरी मानते हुए इस से जुड़ी साझी विरासत को भी अपना रहे थे।

झारखंड :

झारखंड में तनाव की स्थिति काफ़ी जटिल तथा बहुआयामी है। आदिवासी-गैरआदिवासी, अलग-अलग धर्म का पालन करने वाले, जो आदिवासी से ईसाई हो गये हैं या जो हिन्दू से इस्लाम अपना चुके हैं और फिर इन विविधताओं से पनपने वाले तनाव। हमारी कार्यशाला में इस पृष्ठभूमि से आये सहभागियों के बीच तनाव साफ़ नज़र आ रहा था। दो दिनों तक स्थिति काफ़ी मुश्किल भरी रही जहां सहभागी एक-दूसरे से सहयोग करना तो दूर बल्कि दूसरे समुदाय या धर्म के साथी पर कटाक्ष कर रहे थे। दूसरे दिन कार्य समाप्ति के बाद भोजनोपरान्त जब सब रंगारंग कार्यक्रम के लिए एकत्र हुए तो उन्होंने देखा कि पहले से ही सरना समुदाय के तमाम वाद्ययंत्रों की व्यवस्था की जा चुकी है। पहले तो सभी सहभागी इस प्रक्रिया में आनाकानी कर रहे थे परन्तु ज्यों ही उस इलाके का पहला लोकगीत प्रस्तुत किया गया एक-एक कर तमाम साथी शामिल होने लगे। कुछ ही समय में वहां पूरे सांस्कृतिक मेले का समां बंध गया जो कि रात दो बजे तक चला। कार्यक्रम सिर्फ़ यह देखकर बंद किया गया कि

अगले दिन सहभागियों को सत्र में भी बैठना था। अगले दिन सत्र में जब यह बात उठी कि सहभागी बताएं कि कौन सी तस्वीर ज़्यादा सच्ची है पिछले दो दिन कार्यशाला में जो चल रहा था वह या फिर जो सब लोगों ने पिछली रात अनुभव किया। फिर काफ़ी गहन चर्चा के बाद यह उभर कर आया कि समाज में नफ़रत की जड़ें काफी गहरी होने के बावजूद हमारे पास ऐसी बहुमूल्य धरोहरें हैं जो कि हमें एक-दूसरे के करीब लाती हैं।

ऊपर दर्शाये गए अनुभवों के अलावा भी कई शैक्षिक स्तर की कार्यशालाओं में प्रतिभागियों के मुंह से सुनने को मिला कि वे खुद भी काफ़ी हद तक इसी रास्ते पर कार्य करते हैं क्योंकि समाज में तनाव कम करने का यह कारगर उपाय है। इसीलिए, हमारे नेटवर्क के साथी संगठन भी साझी विरासत पर और कार्यशालाओं की मांग कर रहे हैं। हमारा भी अब तक का अनुभव यह बतलाता है कि समाज में व्याप्त खाइयों को पाटने के लिए साझी विरासत एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है।

नकारात्मक साझी विरासतें :

हमारे अनुभव यह भी बतलाते हैं कि साझी विरासत के कुछ रूप खुद तनाव का मुद्दा बन सकते हैं। समाज को धर्म, जाति, समुदाय, लिंग, क्षेत्र, भाषा व दूसरे नामों से तोड़ने वाली ताक़तें हमारी सकारात्मक व स्वस्थ परंपराओं को इस कदर तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करती हैं कि जनता यह विश्वास करने लगे कि इन्हीं विरासतों की वजह से समाज में संघर्ष व्याप्त है। मिसाल के लिए, मोहर्रम पर्व के दौरान ताज़िए को अक़सर ऐसा रंग दिया जाता है जिससे कि तनाव उपजे। ऐसी स्थितियाँ उन कार्यकर्ताओं के सामने विकट समस्या पैदा करती हैं जो साझी विरासतों को अपने काम का आधार बनाए हुए हैं।

साझी विरासतों की सीमाएं :

दुर्भाग्यवश साझी विरासतों की सीमाएं भी हैं। भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप हमारी जीवन शैली में भारी बदलाव आया है जिससे हमारी साझी विरासतों को भी भारी ख़तरा है। कई स्वस्थ परंपराएं व कलाएं धीरे-धीरे मर रही हैं और कई तो पूर्णतः ख़त्म हो चुकी हैं। सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के कई मंच अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। नौटंकी, जागर, कठपुतली, पाण्डवानी आदि कुछ मिसालें हैं जो इस तथाकथित विकास की मार झेल रही हैं। आज साप्ताहिक हाट-बाज़ार, मेले, त्यौहार सब मुक्त व्यापार की चपेट में आ चुके हैं। लोगों के लिए नाटक देखने जाने की बजाय घर पर टी.वी. देखना ज़्यादा आरामदेह है और उधर कलाकार भूखों मरते हैं। हस्तशिल्प, हथकरघा आदि का भी यही हाल है और हम लगातार ऐसे तंत्र खोते चले जा रहे हैं जो समाज के विभिन्न हिस्सों को बांधने का काम करते हैं।

इसके अलावा कुछ कलाओं के रूप उच्च वर्ग तक ही सिमट कर रह गये हैं जहां जनता से उनका कोई संबंध ही नहीं रह गया है। हमारे समाज में लालन-पालन उच्चवर्गीय कलाओं से प्रभावित रहता है और हम भी उसे अपनी साझी विरासत समझने लगे हैं। यदि हम ज़मीनी स्तर पर देखें तो उनका कोई नामलेवा नहीं हैं क्योंकि वे शास्त्रीय रूपों में बंधी हैं। किसी बात को नकार देना आसान है परन्तु यह भी देखने की ज़रूरत है कि क्यों कुछ कलाएं जनता से दूर होते हुए कुछ ही तबकों तक सीमित रह गयी और वहां भी क्या वे आपसी तंत्र को प्रगाढ़ करती हैं? और हमारे अनुभव कहते हैं कि हालांकि सभी शास्त्रीय कलाएं यह प्रश्न झेलती हैं तथापि वे आपसी जुड़ाव का कार्य करती हैं।

आप सोचेंगे कि अब जीवन्त साझी विरासतें कहां हैं जो लोगों को जोड़ती हों, तो जवाब में कहना पड़ेगा कि तमाम मुश्किलों व बाधाओं के बावजूद हमारी संस्कृति के कई तत्व हमें इस तनावपूर्ण माहौल में भी आपस में जोड़ने का काम करते हैं। लोक-कलाएं, कथाएं, हस्तकारी, लोक-संगीत, पर्व-त्यौहार, मेले और भी ना जाने क्या-क्या इस सूची में शामिल हो सकता है। हालांकि वे अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही हैं परन्तु वे विलुप्त नहीं हुई हैं और हर काल व समाज में उभर कर आती रहेंगी क्योंकि कड़वाहटों व टकराहटों से गुज़रते दक्षिण एशिया के ज़ख्मों पर मरहम रखने के लिए इससे कारगर कोई उपाय नहीं है।

***isd* इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,
62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067
टेलीफोन 011-26196356, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com
वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए